दुःख-मुक्ति का मार्ग

आचार्य महाश्रमण

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

ISBN : 978-81-7195-167-3

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

आठवां संस्करण : मई २०१२
नवां संस्करण : सितम्बर २०१२
दसवां संस्करण : सितम्बर २०१२
ग्यारहवां संस्करण : जून २०१४

मूल्य : ६०/- (साठ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर, ०२९४-२४१८४८२

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

ISBN : 978-81-7195-167-3

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

आठवां संस्करण : मई २०१२
नवां संस्करण : सितम्बर २०१२
दसवां संस्करण : सितम्बर २०१२
ग्यारहवां संस्करण : जून २०१४
बारहवां संस्करण : जून २०१४

मूल्य : ६०/- (साठ रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर, ०२९४-२४१८४८२

प्रस्तुति

''**दुःख मुक्ति का मार्ग**'' पाठक के सामने प्रस्तुत है। इसमें आध्यात्मिक विकास के अनेक सूत्र प्रतिपादित हैं। इसके संपादन में साध्वी सुमतिप्रभा ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है। पुस्तक को पठनीयता की भूमिका तक पहुंचाने में मुनि कुमारश्रमण और मुनि कीर्तिकुमार ने भी शक्ति-नियोजन किया है।

पूज्य गुरुदेव तुलसी और पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञ-गुरुद्वय को विनम्र भाव से मैं यह कृति समर्पित करता हूं।

आचार्य महाश्रमण

अपनी इच्छाओं को सीमित करो,

दुःख भी सीमित हो जाएगा.....

अनुक्रम

१. आध्यात्मिक जीवनशैली	१
२. कल्याण का मार्ग : भावशुद्धि	४
३. दुःख-मुक्ति के बाधक तत्त्व	७
४. वर्तमान में मुक्ति	१३
५. स्थितप्रज्ञता	१७
६. आत्मदर्शन	२०
७. आत्मस्थता	२३
८. अमरता	२७
९. आत्मभिमुखता	३०
१०. ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया	३३
११. भाव शुद्धि : जीवन विकास की प्रकिया	३७
१२. साधना का प्रवेश द्वार	४१
१३. दृष्टि कहां टिकी है?	४४
१४. कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव	४८
१५. कोहं असच्चं कुव्वेज्जा	५१
१६. माणो विणयनासणो	५५
१७. सोही उज्जुयभूयस्स	५९
१८. लोहो सव्वविणासणो	६३
१९. मोह से अमोह की ओर	६७
२०. संकल्प की धुरी पर	७०
२१. मंजिल दूर या निकट	७५

२२. साधना की निष्पत्ति : वीतरागता ७८
२३. आत्मानुभूति में बाधक : अहंकार और ममकार ८२
२४. दुःख मुक्ति का मार्ग ८५
२५. सहज आनंद के बाधक तत्त्व ८९
२६. नास्तिक भी सदाचारी रहे ९३
२७. 'प्रेक्षाध्यान' साधना के दो रूप ९८
२८. आध्यात्मिक वैभव १०१
२९. अप्रमाद की ओर १०६
३०. आवेशों की विफलता : जीवन की सफलता १०८

१

आध्यात्मिक जीवनशैली

तीन नकारात्मक शब्द हैं—अनावेश, अनासक्ति और अनाग्रह। किन्तु इन नकारात्मक शब्दों में भी उपयोगी अर्थवत्ता हो सकती है। व्याकरणशास्त्र का यह नियम है कि जो स्वरादि शब्द होता है, उसे नकारात्मक बनाने के लिए अन् शब्द जोड़ा जाता है। जैसे आवेश में अन् शब्द जोड़ने पर अनावेश शब्द निष्पन्न होता है।

अनावेश

अनावेश की स्थिति, मानसिक संतुलन की स्थिति होती है। जो व्यक्ति छोटी-छोटी बात में आवेश में आ जाता है, वह अपना नुकसान भी कर सकता है। जो व्यक्ति हर स्थिति में शान्त रहता है, वह घटना से लाभ भी उठा सकता है। हमारे धर्मसंघ के पांचवें आचार्य पूज्य मघवागणी स्वनामधन्य सन्त हुए हैं। उनकी सन्तता अथवा यों कहूं कि उनकी अनावेश की स्थिति बहुत ऊंचाई तक पहुंच चुकी थी। उनके लिए वीतरागकल्प विशेषण का सार्थक प्रयोग किया गया। उनको भले सभा में उपालम्भ दिया गया अथवा प्रशंसा की गई, वे अनावेश की स्थिति में रहे।

आदमी के लिए यह वांछनीय है कि वह हर परिस्थिति में अनावेश रहने का अभ्यास करे। किन्तु उसे कभी-कभी कुछ क्षणों के लिए इतना तेज आवेश आता है कि वह अपना आपा खो देता है, अण्ट-सण्ट बोलने लगता है, विवेक लुप्त हो जाता है और सामने कौन है, यह बात भी अर्थहीन हो जाती है। कुछ व्यक्तियों को दो-चार मिनिट के लिए ही गुस्सा आता है, किन्तु जब आता है तक उनका रूप विकराल बन जाता है, मानो वे कोई विस्फोट कर रहे हों।

आदमी को इस दुर्बलता से बचना चाहिए। गुस्से पर नियन्त्रण करना चाहिए। कभी कठोर बात कहना कोई बुरी बात नहीं होती। अनुशासन की दृष्टि से भी कभी-कभी कड़ी बात कही जा सकती है। किन्तु कठोर बात भी शान्तमन से कहनी चाहिए। अगर बात कहते समय भीतर में आवेश आ जाए तो मानना चाहिए कि जीवन और कार्य की वह पहली विफलता होती है।

धार्मिक जगत् में तो अनावेश को महत्त्व दिया ही गया है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी अनावेश का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक परिवार में अनेक लोग साथ रहते हैं। यदि वे आवेशशील हों तो परिवार नरक बन जाता है। आवेश न करना जीवन की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

अनासक्ति

जब तक व्यक्ति शरीरधारी है, प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो सकता। जहां प्रवृत्ति होती है, वहां बंध होता है। इसलिए कहा गया कि आदमी अनासक्ति से प्रवृत्ति करे। वह चलता है, बोलता है, परिवार में रहता है, व्यापार करता है, किन्तु इन सबके साथ अनासक्ति को जोड़ दिया जाए तो जीवन में सफलता हासिल कर सकता है। आसक्ति जहां भी होती है, दुःख का हेतु बनती है। चाहे वह वस्तु के प्रति हो या व्यक्ति के प्रति। राजस्थानी साहित्य में एक सुन्दर दोहा प्राप्त होता है—

जे समदृष्टी जीवड़ा, करै कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर दिल न्यारा रवै, ज्यूं धाय रमावै बाल।।

धाय-माता बच्चे का लालन-पालन करते हुए भी इस बात को जानती है कि लड़का मेरा नहीं है। धार्मिक आदमी भी यह सोचे कि मैं परिवार में रहता हूं। परिवार का भरण-पोषण करना मेरा कर्तव्य है। परन्तु अन्ततः मैं अकेला हूं, दूसरा मेरा कोई नहीं है। किसी राज्य में एक सन्त पधारे। वे बहुत ज्ञानी, वैरागी, तेजस्वी और तपस्वी थे। स्वयं नरेश महात्माजी के पास आए और निवेदन किया—मेरे महल में भी पधारने की कृपा करें। सन्त ने नरेश की बात स्वीकार कर ली और दूसरे दिन राजमहल में पधार गए। राजा ने महात्माजी के आवास और भोजन की सुन्दर व्यवस्थाएं कर दीं। सप्ताह बीत गया किन्तु सन्त तो जाने का नाम ही नहीं लेते। आखिर राजा ने कहा—महात्मन्! अब तो आपको कहीं अन्यत्र पधारना होगा। सन्त ने तत्काल वहां से प्रस्थान कर दिया। राजा महात्माजी को पहुंचाने साथ चल रहा था। मार्ग में एक जिज्ञासा की—महात्मन्! मैं भी महल में सुविधा भोग रहा था और आप भी महल में

सुविधा भोग रहे थे। फिर हम दोनों एक समान हो गए, अन्तर कहां रहा? सन्त ने कहा—राजन्! कुछ और आगे चलो, फिर बताऊंगा। कुछ समय बाद राजा ने फिर कहा—महात्माजी! अब तो मेरे प्रश्न का जवाब दीजिए। मुझे वापस राजमहल जाना है। सन्त ने कहा—तुम्हारे और मेरे में यही अन्तर है। मैं तन से महल में रहता था और तुम्हारे दिमाग में महल रहता है। बस यही अन्तर है आसक्ति और अनासक्ति का। ज्यादा आसक्ति अध्यात्म की दृष्टि से तो बाधक है ही, किन्तु व्यवहार में भी अच्छी नहीं होती। इसलिए आदमी को आसक्ति से बचना चाहिए।

अनाग्रह

धार्मिक दृष्टि से जहां भी दुराग्रह है, वहां आदमी सत्य से दूर हो जाता है और जिसमें आग्रह नहीं होता, नम्रता होती है, वह सत्य के निकट होता है। सामान्यतया व्यक्ति को आग्रह मुक्त रहना चाहिए। किन्तु किसी-किसी बात का आग्रह हो भी सकता है। जैसे—एक साधु का व्रत है कि वह जीवनपर्यन्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि का पालन करेगा। इसमें आग्रह होना चाहिए कि कुछ भी हो जाए, मैं अपनी साधना को नहीं छोड़ूंगा। इस प्रकार की नियमनिष्ठा अथवा आग्रह तो होना ही चाहिए। किन्तु व्यवहार की बातों में, दैनन्दिन कार्यों में आग्रह हो, यह ठीक नहीं है। परिवार में पांच-सात सदस्य हों, उनमें से एक कहे कि मुझे अमुक प्रकार का व्यंजन खाना है और दूसरा कहे कि मुझे तो भिन्न प्रकार का भोजन करना है तो आखिर सबकी इच्छापूर्ति कैसे हो सकती है? इन छोटी-छोटी बातों के लिए जब आग्रह होता है तो परिवार में, समाज में आनन्द का रस सूखने लगता है और परिवार की व्यवस्था भी गड़बड़ा जाती है। आनन्द का रस न सूखे और परिवार में सामंजस्य बना रहे, इसलिए आदमी को व्यावहारिक बातों में फ्लेक्सिबल होना चाहिए। इस प्रकार आदमी के जीवन में अनाग्रह का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वह जीवनशैली प्रशस्त होती है जो अनावेश से प्रभावित हो, अनासक्ति और अनाग्रह से युक्त हो। इन तीनों से जीवन की बगिया लहलहा उठती है और आदमी का जीवन सरस और सुखी बन जाता है।

२

कल्याण का मार्ग : भावशुद्धि

आर्हत वाङ्मय में कहा गया है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

उत्तराध्ययन सूत्र के इस श्लोक में जैन साधना-पद्धति का संक्षिप्त निरूपण करते हुए बताया है कि जब तक सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं होगा, तब तक ज्ञान भी सम्यक् नहीं होगा। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के अभाव में चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। चारित्र के बिना पूर्णतः कर्म-मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति के अभाव में निर्वाण की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। निर्वाण-प्राप्ति का मूल आधार है—सम्यक् दर्शन।

जीवन में तपस्या का महत्त्व होता है, साधना का महत्त्व होता है, किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव में उस तपस्या और साधना का अधिक महत्त्व नहीं रहता। साधक इस बात पर विचार करे कि मेरा दृष्टिकोण कैसा है? अध्यात्मपरक है अथवा पदार्थपरक? साधक वह होता है जो शरीर से संसार में रहता है, व्यवहार को निभाता है, किन्तु चित्त मोक्ष में अवस्थित रहता है अर्थात् वह जीता बाहर है और रहता भीतर है।

साधक पदार्थ का आसेवन करता है, भोजन करता है, कपड़े पहनता है और भी अनेक क्रियाएं करता हैं, अनेक पदार्थों का उपयोग-उपभोग करता है। यदि जीना है तो पदार्थ का सहारा लेना ही पड़ेगा। पदार्थ-निरपेक्ष होकर आदमी जी नहीं सकता, किन्तु पदार्थों की दुनिया में साधक की चेतना विकृत न बने।

आदमी के भीतर राग और द्वेष—ये दो मौलिक वृत्तियां होती हैं। इन दोनों से अनेक प्रकार की वृत्तियों का निर्माण हो जाता है। कोई व्यक्ति ईर्ष्यालु है, कलहप्रिय है, चिड़चिड़े स्वभाव का है, अहंकारी है, ये सब भीतर के राग-द्वेष के संस्कार आदमी के चित्त का विकृत बना देते हैं। चित्तशुद्धि के लिए जरूरी है भाव-विशुद्धि। यदि व्यक्ति के भावशुद्ध हैं, ज्ञाता-द्रष्टा भाव है तो पदार्थ का भोग करते हुए भी वह समता में रह सकता है और यदि भाव अशुद्ध हैं, मलिन हैं, राग-द्वेषयुक्त हैं तो पदार्थ को छोड़ देने पर भी मन में विषमता उत्पन्न हो सकती है। समता और विषमता का कारण पदार्थ नहीं, भावना है। मात्र भावना से व्यक्ति कहां से कहां तक पहुंच जाता है।

महाराज प्रसन्नचन्द्र पोतनपुर नगर के अधिशास्ता थे। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर वैराग्य भाव जागृत हो गया। अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर स्वयं मुनि बन गए। वे एक बार भगवान महावीर के साथ विहार करते हुए राजगृह नगरी में पधारे। समवसरण के बाहर वे सूर्य के सामने ऊर्ध्वबाहु ध्यानस्थ खड़े आतापना ले रहे थे। महाराज श्रेणिक अपने दल-बल सहित प्रभु के दर्शनार्थ आए। सुमुख और दुर्मुख नामक दूत भी साथ थे। मुनि को ध्यानस्थ देखते ही दुर्मुख बोला—अरे सुमुख! यह ढोंगी मुनि ध्यान में खड़ा है। उधर नगर पर दुश्मन राजा ने आक्रमण कर दिया। राज्य छीन लिया जाएगा। अब पुत्र, पत्नी और जनता की कौन सुरक्षा करेगा? दुर्मुख के ये शब्द कान में पड़ते ही मुनि प्रसन्नचन्द्र का ध्यान भंग हो गया। वे मन ही मन शत्रुओं के साथ युद्ध करने लगे। पुत्र, पत्नी और राज्य की चिन्ता में आर्तध्यान में उलझ गए, भावना क्रूर होती गई और अन्तिम में तो भावना इतनी मलिन हो गई कि सातवीं नरक में उत्पन्न होने की स्थिति बन गई। शत्रुओं को मारने के लिए अपने सिर से मुकुट उतार कर फेंकने लगे। जब हाथ सिर पर गया तब भान हुआ—मैं तो मुनि बन गया हूं। किसका राज्य? किसका पुत्र? ये सारे संबंध तो झूठे हैं। कौन किसका मित्र है और कौन किसका शत्रु? यह विचार आते ही मनोभाव बदल गए। भाव इतने ऊंचे हो गए कि उन्हें वहीं केवलज्ञान प्राप्त हो गया। कहां सातवीं नरक और कहां केवलज्ञान? दोनों ओर से पराकाष्ठा।

साधक भावविशुद्धि के साथ-साथ योगविशुद्धि भी बनाए रखे। छद्मस्थता के कारण कभी आक्रोश का भाव जाग सकता है, कभी वासना का भाव जाग सकता है, कभी भय का भाव जाग सकता है तो कभी अहंकार, लोभ, घृणा आदि का भाव जाग सकता है, किन्तु साधक का यह लक्ष्य रहे कि मुझे वृत्ति-

परिष्कार करना है। यदि कषाय-शमन हो गया तो समझना चाहिए साधना के क्षेत्र में बहुत विकास कर लिया।

हमारे लिए मुख्य दो आश्रव हैं—कषाय अश्रव और योग आश्रव। मैंने इन दोनों आश्रवों पर गंभीरता से चिन्तन किया, तब मुझे लगा कि कषाय आश्रव को अभी क्षीण कर देंगे, ऐसी संभावना नहीं की जा सकती। कषाय भीतर हैं और भीतर के संस्कारों को इस जन्म में उन्मूलित कर दिया जाएगा, ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती, किन्तु हम कषाय आश्रव को योग आश्रव में परिणत न होने दें, ऐसा प्रयास किया जा सकता है। क्रोध मन में आ गया, वाणी में आ गया अथवा चेहरे पर आ गया तो वह क्रोध योग आश्रव बन गया। साधक यह प्रयास करे कि कषाय आश्रव को योग आश्रव की सीमा में प्रवेश न करने दे। यदि योगशुद्ध बन गए, मन, वचन और शरीर में शुद्धता आ गई तो चित्त विशुद्ध बन जाता है। संस्कृत साहित्य में सुन्दर कहा गया—

चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वदा रक्षणीयं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।।

धातुओं से बना हुआ शरीर चित्त के अधीन है। चित्त के नष्ट होने पर धातुएं भी नष्ट हो जाती हैं। इसलिए चित्त की हर समय रक्षा करनी चाहिए। चित्त के स्वस्थ रहने से ही बुद्धि का विकास होता है और तभी परमार्थ का पथ प्रशस्त हो सकता है।

३

दुःख-मुक्ति के बाधक तत्त्व

जैन वाङ्मय में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्राप्त होता है—

जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे, पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।

दसवेआलियं सूत्र से उद्धृत प्रस्तुत श्लोक में आठ बातें बताई गई हैं, जो मोक्ष-प्राप्ति अथवा दुःख-मुक्ति में बाधक हैं। पहली बाधा है—चण्डे। जो आदमी बार-बार चण्डता का प्रयोग करता है, प्रकृति से जटिल होता है, उसके लिए दुःख मुक्ति कठिन होती है। साधक को चण्डालोचित आचरण नहीं करना चाहिए, यानी निर्दयतापूर्ण और द्वेषपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए। आदमी को मृदु व्यवहारी बनना चाहिए। न केवल साधक के लिए ही यह बात आवश्यक है, अपितु एक सज्जन के लिए भी यह अपेक्षित है कि वह अपने व्यवहार को शालीन, शान्त और सुन्दर बनाए रखे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ बहुत बार फरमाते थे और स्वयं मेरा भी यह अनुभव है कि मूल तो मृदुता ही है, कठोरता तो कभी-कभी करनी पड़ती है। जहां मृदुता होती है, कोमलता होती है, वहां आकर्षण होता है। जहां कठोरता होती है, निष्ठुरता होती है, वहां आकर्षण समाप्त हो जाता है। आदमी स्वयं शान्त कषाय वाला होता है, तो दूसरों की शान्ति में भी निमित्त बनता है और लोग भी उससे आकृष्ट होते हैं। आक्रोशशील आदमी दूसरों की शान्ति को और अपनी शान्ति को भंग करने वाला होता है। शान्ति के महत्त्व को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा।।

जितने अर्हत् अतीत काल में हो चुके हैं और जितने भविष्य में होंगे और यह भी कहा जा सकता है कि जितने अर्हत् वर्तमान में हैं, उन सबका आधार शान्ति है, जैसे प्राणियों का आधार पृथ्वी है। जिस प्रकार धरती हमारे लिए आधार स्वरूप है, हम धरती पर टिके हुए हैं, उसी प्रकार जो अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं, उनका बुद्धत्व और केवलज्ञान शान्ति पर टिका हुआ है। शान्ति न हो तो केवलज्ञान हो ही नहीं सकता। न केवल केवलज्ञान, अपितु सम्यक् दर्शन भी एक सीमा तक शान्ति पर आधारित होता है। शान्ति नहीं है तो सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। श्रावकत्व को भी शान्ति चाहिए, साधुत्व को भी शान्ति चाहिए और बुद्धत्व को भी शान्ति चाहिए। आदमी को शान्ति सम्पन्न बनने के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मृदु व्यवहार-सम्पन्न बनना होगा और चण्डालोचित कार्य चण्ड व्यवहार को त्यागना होगा।

दूसरी बाधा है—मइइड्ढिगारवे। मति और ऋद्धि का अहंकार। जो आदमी अहंकारी होता है, वह दुःख-मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए आदमी को किसी बात का घमण्ड नहीं करना चाहिए। न धन का, न ज्ञान का और न सत्ता का गर्व करना चाहिए। धनवान लोगों के लिए मैं तीन परामर्श दिया करता हूं। पहला परामर्श है कि धन का अहंकार मत करो। दूसरा परामर्श है कि धन के प्रति ज्यादा आसक्ति मत रखो, त्याग की भावना रखो। तीसरा परामर्श है कि धन का कभी दुरुपयोग मत करो।

ज्ञानवान लोगों के लिए भी मेरे तीन परामर्श हैं—

१. आदमी अपने अज्ञान को पहचाने और उसे दूर करने का प्रयास करे।

२. प्राप्त ज्ञान को दूसरों को बांटने का प्रयास करे।

३. आत्मज्ञान/विशिष्ट ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

जिस आदमी के पास आत्मज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान है, वह ज्यादा अहंकार नहीं करता।

आदमी को बुद्धि का, ऋद्धि का अहंकार नहीं करना चाहिए। अहंकार करने वाला दुःख को प्राप्त करता है और अहंकार को छोड़ने वाला सुख-शान्ति को प्राप्त करता है।

तीसरा बाधा है—पिसुणे नरे। चुगलखोर आदमी अपने लिए दुःख तैयार कर लेता है। चुगलखोर वृत्ति बड़ी खराब मानी गई है, एक पाप माना गया है। जिसका लक्ष्य ही छिद्रान्वेषण बन जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर

सकता। किसी संस्कृत कवि ने ऐसे व्यक्ति को मच्छर से उपमित किया है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं,
कर्णे कलौ किमपि रोति शनैः विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति।।

मच्छर पहले पैरों में गिरता है, फिर पृष्ठमांस खाता है। कान में धीरे-धीरे मधुर और विचित्र ध्वनि करता है। छिद्र को देखकर निशंक होकर उसमें प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार मच्छर दुष्टता का चरित्र करता है। चुगलखोर व्यक्ति का आचरण भी मच्छर की भांति ही होता है। आदमी को पिशुनता छोड़कर दुःखमुक्त हो सकता है।

चौथी बाधा है—साहस। जो आदमी साहसिक होता है, वह दुःख-मुक्त नहीं हो सकता। यहां साहसिक का अर्थ किया गया है—अविमृश्यकारी (बिना सोचे-विचारे काम करने वाला)। कोई प्रसंग सामने आए और बिना चिन्तन किए ही निर्णय ले लिया जाए तो कई बार बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है, अप्रिय घटित हो सकता है।

राजकुमार को कार्यवश दूर देश जाना पड़ा। बारह वर्षों बाद अचानक वह अपने देश लौट आया। रात्रि का समय था। राज-कर्मचारियों के साथ अपने प्रासाद में पहुंचा। जैसे ही अपने कक्ष में प्रवेश किया और देखा कि पत्नी के पास कोई पुरुष भी सो रहा है। राजकुमार को भयंकर आवेश आया और सोचा अभी तलवार से दोनों को खत्म कर दूंगा। तत्काल दिमाग में एक बात कौंध गई कि मैंने बचपन में एक लाख रुपये में अक्ल खरीदी थी, वह यह थी—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः।।

बिना सोचे-विचारे तत्काल कोई कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक परम आपदाओं का स्थान है। जो सोच-विचार कर कार्य करता है, उसके पास सम्पदा आती है। इस अक्ल को याद करके राजकुमार ने पत्नी को जगाया और पूछा—'तुम्हारे पास कौन सो रहा है?' पत्नी—'पतिदेव! यह तो आपका ही लड़का है। आप गए थे तब यह गर्भ में था और आज बारह वर्ष का हो गया है।' राजकुमार ने सोचा—'आज तो गजब हो जाता। बिना सोचे-समझे तलवार से मार देता तो पत्नी और पुत्र दोनों काल-कवलित हो जाते। मेरा घर उजड़ जाता।' आगमकार ने बहुत ठीक कहा है कि बिना सोचे-विचारे काम करने

वाला दुःख पैदा कर लेता है।

पांचवीं बाधा है—हीणपेसणे। जो आदमी अनुशासनहीन होता है, अपने मालिक का, पूज्यों का कहना नहीं मानता है, उनकी अवमानना करता है, वह दुःख को पैदा करता है और जो विनीत होता है, पूज्यों की आज्ञा मानने वाला होता है, वह व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है। आज की पीढ़ी के लिए भी यह सोचने की बात है कि उसमें आज्ञाकारिता है या अवज्ञाकारिता? आज्ञा को पालने वाला आज्ञाकारी होता है और आज्ञा की अवमानना करने वाला अवज्ञाकारी होता है।

संस्कृत साहित्य में तो यहां तक कह दिया गया—'आज्ञा गुरुणां अविचारणीयां'—गुरु के आदेश में चिन्तन की अपेक्षा नहीं होती, तत्काल उसका पालन करना चाहिए। जहां आज्ञाशीलता सुख का मार्ग है, वहां अवज्ञाशीलता दुःख का मार्ग है।

छठी बाधा है—अदिट्ठधम्मे। जो व्यक्ति धर्म को नहीं जानता, वह अपने लिए दुःख पैदा करता है। गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से कहा—'धर्म का गम्भीर स्वरूप समझना कठिन होता है। इसलिए आप मुझे 'सामान्य धर्म' का मार्ग बताने की कृपा करे।' आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत-श्लोक के माध्यम से सामान्य धर्म बताते हुए कहा—

पात्रे दानं गुरुषु विनयः सर्वसत्वानुकम्पा।
न्याय्या वृत्तिः परहितविद्यावादरः सर्वकालम्।।
कार्यो न श्रीमदपरिचयः संगतिः सत्सु सम्यग्।
राजन्! सेव्यो विशदमतिना सैष सामान्यधर्मः।।

सुपात्र को दान देना, गुरु का विनय रखना, प्राणीमात्र के प्रति दया रखना, न्यायपूर्ण आचरण करना, दूसरों के हित का विचार करना, लक्ष्मी का अभिमान नहीं करना और सज्जन पुरुषों की संगति करना सामान्य धर्म का स्वरूप है। निर्मल बुद्धि वाले व्यक्ति को इसका पालन करना चाहिए।

त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। संयम धर्म है, असंयम अधर्म है। अनमोल धर्म है, मूल्य से प्राप्त होने वाला धर्म नहीं है। आदमी धर्म को समझे, बुराइयों का त्याग करे, नशा छोड़े, गुस्सा छोड़े और बेईमानी को छोड़े। धर्म को समझकर पाप को छोड़ने वाला व्यक्ति दुःख-मुक्त होता है और अधर्म के रास्ते पर चलने वाला अथवा अदृष्टधर्मा व्यक्ति अपने लिए दुःख तैयार कर लेता है।

सातवीं बाधा है—विणए अकोविए। जो व्यक्ति विनय में अकोविद (अपण्डित) है, झुकना नहीं जानता, पूज्यों का सम्मान करना नहीं जानता, दुराग्रह नहीं छोड़ता, वह दुःखी होता है। इसलिए व्यक्ति को विनय में कुशल होना चाहिए। विनय की आराधना से ही आत्मा का हित संभव हो सकता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने इस बात की पुष्टि के लिए 'सुखबोधा' में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

विणया णाणं णाणाओ, दसणं दंसणाओ चरणं च।
चरणेहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं निराबाहं।।

विनय की आराधना से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में निराबाध सुख उपलब्ध होता है।

आठवीं बाधा है—असंविभागी। जिस व्यक्ति में संविभाग की मनोवृत्ति नहीं होती, वह दुःख को प्राप्त करता है। समाज में जीने वाला व्यक्ति यदि दूसरे के हिस्से को भी स्वयं लेना चाहता है तो वहां संघर्ष की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'मेरा सो मेरा, तेरा भी मेरा।' इसके विपरीत उदार वृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'तेरा सो तेरा, मेरा भी तेरा।' जबकि एक सन्त व्यक्ति कहता है—'ना कुछ तेरा, ना कुछ मेरा। दुनिया रैन-बसेरा।।'

जो आदमी संविभाग करना जानता है, छोड़ना जानता है, त्यागना जानता है, वह दुःख मुक्त हो सकता है। असंविभागी व्यक्ति कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। मुनिश्री स्वरूपचंदजी स्वामी के साथ कई सन्त थे। एक दिन भिक्षा में पानी कम आया। इसलिए मुनिश्री ने साधुओं से कहा—'आज पानी कम आया है इसलिए टोपसी से माप-माप कर पीना।' प्रायः सभी ने इस निर्देश का जागरूकता से पालन किया। किन्तु ओटोजी नाम के साधु ने बिना मापे ही पात्र उठा कर पी लिया। मुनिश्री ने कहा—'तुमने व्यवस्था का भंग क्यों किया? टोपसी से मापे बिना पानी क्यों पीया?' ओटोजी ने कहा—'पानी भी कोई माप कर पीया जाता है? मुझे प्यास लगी थी, अतः अधिक पानी पी लिया तो क्या हुआ?' मुनिश्री ने समझाते हुए कहा—'सामान्य स्थिति में पानी मापने की जरूरत नहीं होती। आज पानी कम है। संविभाग की हमारी व्यवस्था है। तुमने व्यवस्था का भंग किया है।' अनुशासन और व्यवस्था का अतिक्रमण करने के कारण अथवा संविभाग की मनोवृत्ति न होने के कारण उनका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया गया।

जो व्यक्ति बार-बार गुस्सा नहीं करता, मति और ऋद्धि का अहंकार नहीं करता, चुगली नहीं करता, बिना सोचे-विचारे कार्य नहीं करता, अनुशासनहीन नहीं होता, धर्म को जानने वाला, विनय में कोविद (पण्डित) और संविभाग की मनोवृत्ति वाला होता है, वह दुःख-मुक्त बन सकता है और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

४

वर्तमान में मुक्ति

संसार में दो कोटि के मनुष्य होते हैं। प्रथम कोटि में वे लोग समाविष्ट होते हैं, जो अपने जीवन का सम्यक् लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाते। दूसरी कोटि में वे लोग आते हैं, जो अपने जीवन का सम्यक् लक्ष्य निर्धारित करने में सफल हो जाते हैं। इस कोटि में वे ही लोग आते हैं, जो सुसंस्कार और सुकृत-सम्पन्न होते हैं। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं। संसार के अधिकांश लोग लक्ष्य-निधारण के अभाव में प्रथम कोटि में ही रह जाते हैं। किन्तु जीवन की सफलता के लिए मात्र सम्यक् लक्ष्य-निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है। लक्ष्य-निर्धारण के साथ-साथ वहां तक पहुंचाने वाले सही मार्ग का ज्ञान होना भी आवश्यक है और उस मार्ग पर सम्यग् गति करना भी नितान्त अपेक्षित है।

प्रश्न हुआ, जीवन का सम्यक् लक्ष्य क्या होना चाहिए? अध्यात्म के क्षेत्र में जीवन का लक्ष्य मोक्ष माना गया है। हालांकि उपलक्ष्य अनेक हो सकते हैं, पर अन्तिम लक्ष्य परम आनन्दमय आत्म-स्वरूप को प्राप्त करना है। मोक्ष-प्राप्ति की कामना बहुत बड़ी है। इसे तो अनेक जन्मों की साधना के बाद समस्त कर्मों से मुक्त होने के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान जीवन में भी मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहा गया—

निर्जितमदमदनानां, मनोवाक्कायविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानां, इहैव मोक्षः सुविहित्तानाम्।।

जिसने अहंकार और काम को जीत लिया। जो मन, वचन और शरीर के विकारों से मुक्त हो गया। जो पर-पदार्थ की आशाओं से निवृत्त हो गया। उसे यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

आदमी की एक दुर्बलता है—अहंकार। मन के प्रतिकूल काम होने पर, किसी के द्वारा अपमानित होने पर या किसी दूसरे के द्वारा बात को स्वीकार न करने पर आदमी का अहंकार उभर जाता है। यह अहंकार फिर गुस्से को पैदा कर देता है। इसलिए व्यक्ति अपने अहंकार को विगलित करने का प्रयास करे। एक शिष्य ने गुरु से ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञान-प्राप्ति के बाद शिष्य ने निवेदन किया। गुरुदेव! आपने मुझे ज्ञान दान देकर बहुत कृपा की। मैं इसके प्रतिफल में या कृतज्ञता ज्ञापित करने के रूप में आपको क्या दक्षिणा दे सकता हूं? गुरु ने कहा—वत्स! मुझे कोई कीमती वस्तु नहीं चाहिए। तुम्हें जो बेकार चीज लगे, जिसका कोई उपयोग न हो वह मुझे दक्षिणा में दे देना। शिष्य गुरुकुल से बाहर निकला और देखा कि यह मिट्टी बेकार की चीज है, इसे ही दे देना चाहिए। वह मिट्टी लेकर गुरु के पास गया। गुरु ने कहा—मिट्टी तो बड़ी काम की चीज है। इससे ईंटें बनती हैं, घड़ा बनता है, बच्चों के खेलने में भी काम आती है। यह तो बहुत उपयोगी है। फिर वह राख लेकर गुरु के पास पहुंचा। गुरु ने राख का भी उपयोग बताते हुए कहा—यह जैन मुनियों के लुंचन में काम आती है। अजीर्ण होने पर राख और नमक की गोली लेने से स्वास्थ्य लाभ होता है। और भी अनेक प्रकार से उपयोगी हो सकती हैं। शिष्य ने अनेक वस्तुओं के नाम बताए। किन्तु गुरु ने सबकी उपयोगिता सिद्ध कर दी। अन्त में शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मेरे भीतर जो अहंकार है वह बिल्कुल अनुपयोगी है। आप इसे स्वीकार करें। गुरु ने कहा—वत्स! सचमुच, इसका कोई उपयोग नहीं है। वह मेरे पास छोड़ दो। तुम हलके हो जाओगे। जो आदमी अहंकार को छोड़ना जानता है। उसको यहीं मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जिसने मदन को यानी काम-वासना को जीत लिया, उसे यहीं मोक्ष प्राप्त हो सकता है। काम को जीतना भी आसान काम नहीं हैं। जब भीतर में वासना उत्तेजित होती है, बड़े-बड़े व्यक्ति भी विचलित हो जाते हैं। सामान्य आदमी की तो बात ही क्या, सन्त-परम्परा का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि परिस्थितियों ने उनके मन को भी कमजोर बना दिया और वे दोष-सेवन के लिए आतुर हो गए। वस्तुतः काम को जीतना बहुत मुश्किल है।

जीवन की पवित्रता के लिए ब्रह्मचर्य की साधना बहुत जरूरी है। इस संदर्भ में प्राचीन आचार्यों ने तो यहां तक कह दिया—'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्' ब्रह्मचर्य जीवन है और अब्रह्मचर्य मृत्यु है। एक गृहस्थ साधक के लिए पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य को स्वीकार करना कठिन होता है। इसलिए 'स्वदार-सन्तोष' व्रत की बात कही गई है। उसके लिए किसी भी स्थिति में उन्मुक्त

भोग वांछनीय नहीं होता। कामवृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए उसके सामने कुछ आदर्श रहते हैं—

- पर-स्त्रीगमन नहीं करना।
- वेश्यागमन नहीं करना।
- अप्राकृतिक मैथुन सेवन नहीं करना।
- व्यावसायिक वृत्ति से विवाह संबंधों को अपना समर्थन न देना।
- तीव्र कामभोगों की अभिलाषा न करना।

ब्रह्मचर्य को सब व्रतों का शिरोमणि माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जाहित्थिओ बालमणोहराओ।।

'मोक्ष चाहने वाले संसार-भीरु एवं धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नहीं है, जैसी दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियां हैं।' आदमी काम को जीतने की साधना करे। जो काम को जीत लेता है। उसको मोक्ष यहीं प्राप्त हो सकता है।'

जिसका मन, वचन और शरीर विकारों से रहित होता है, वह यहीं मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जिसने आक्रोश, लोभ, भय, अहंकार आदि को जीत लिया। वह मोक्ष के निकट पहुंच जाता है। साधक की मुख्य साधना ही यही होती है कि वह विकारों का सर्वथा नाश करने का प्रयत्न करे। ऐसी कोई असंभव बात नहीं है कि विकार नाश हो ही नहीं सकता। सौ प्रतिशत न भी हो, किन्तु काफी अंशों में नाश किया जा सकता है।

एक सैनिक युद्ध के मोर्चे पर गया। उसकी मां ने संकल्प किया कि मेरा बेटा सानन्द घर लौट आएगा तो मैं एक संन्यासी को भोजन कराऊंगी। संयोगवश युवक सानन्द घर पहुंच गया। मां ने बेटे को अपने संकल्प से अवगत कराया। बेटे ने कहा—मां! मरे हुए बाबा को बुलाना। मां ने कहा—बेटा! कैसे पागलपन की बात करते हो। मरा हुआ संन्यासी कैसे आ सकता है? वह गई और संन्यासी को बुला लाई। लड़के ने बाबा को गालियां देनी शुरू की। बाबा रुष्ट होकर वापस चला गया। इस प्रकार कई बाबा आए और रुष्ट होकर

चले गए। आखिर एक बाबा आया। वह युवक की गालियों से आहत नहीं हुआ, शान्त रहा। बेटे ने कहा—मां! यह मरा हुआ बाबा है। इसे भोजन कराकर तुम अपना संकल्प पूरा करो। मां समझी नहीं। बेटे ने कहा—मरा हुआ संन्यासी वह होता है जिसका आक्रोश मर जाता है, वासना मर जाती है, अहंकार मर जाता है। संन्यासी को तो मरा हुआ होना ही चाहिए। गृहस्थ को भी इन विकारों को कम करने का प्रयास करना चाहिए। जब मन में विकार आता है, गलत चिन्तन आता है, तब मन विकृत बन जाता है। जब आदमी झूठ बोलता है, कटु बोलता है, तब वाणी विकृत बन जाती है। जब संकेत या शारीरिक क्रियाओं के द्वारा गलत कार्य किया जाता है, तब कायिक विकार हो जाता है। आदमी विकारों को दूर करने का प्रयास करे तो उसे यहीं मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

आदमी पर-पदार्थों के प्रति आशा न रखे। जहां आशा का भाव होता है, वहां निराशा का भाव भी आ सकता है। इसलिए आदमी अपने प्रति संतुष्ट रहे। पर पदार्थों के प्रति अनाशंसा का भाव रखे। जब पर-पदार्थों के प्रति आशा का भाव विनिवृत्त हो जाता है तो व्यक्ति को मोक्ष यहीं मिल सकता है। जो व्यक्ति वर्तमान में उदासीन रहता है, संतुष्ट रहता है, वह जीवित अस्वस्थ में भी मुक्त हो सकता है।

आदमी अहंकार और काम-वासना को जीते। मानसिक, वाचिक और कायिक विकारों को दूर करे। पर-पदार्थ की आशा से निवृत्त रहे तो यहीं, इसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

५

स्थितप्रज्ञता

आर्हत वाङ्मय में एक सुन्दर शब्द प्रयुक्त हुआ है—**ठियप्पा।** जैन वाङ्मय का ही दूसरा शब्द है—**वीयराग।** स्थितात्मा और वीतराग एक भूमिका पर आसीन व्यक्ति प्रतीत होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी इन दोनों शब्दों के तुल्य लगता है। जो वीतराग है, स्थितात्मा है वह स्थितप्रज्ञ होता है। गीता में कहा गया है—

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

स्थितप्रज्ञ के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं। जो रागमुक्त हो गया है, जो भयमुक्त हो गया है और जो आवेशमुक्त हो गया है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। एक शब्द में कहा जाए तो जो समतायुक्त होता है, वह स्थितप्रज्ञ होता है। आदमी का जीवन रागात्मक होता है। उसकी पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है, व्यक्ति-विशेष के प्रति अनुराग होता है और यहां तक कि धर्म के क्षेत्र में भी थोड़ा अनुराग चलता है। जिसको वीतराग बनना है, स्थितप्रज्ञ बनना है, उसे पूर्णतया रागमुक्त बनना होगा। एक शिष्य का गुरु के प्रति जो प्रशस्त अनुराग होता है, वह भी आखिर त्याज्य होता है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम के मन में भी भगवान महावीर के प्रति रागभाव था। जब तक वह राग रहा, गणधर गौतम को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

गृहस्थ-जीवन में राग चलता है, परन्तु वहां राग पर त्याग का अंकुश रहना चाहिए। गार्हस्थ्य में मनोरंजन को भी महत्त्व दिया जाता है, किन्तु आत्मरंजन भी होना चाहिए। वहां भोग चलता है तो साथ में योग भी चले। राग पर त्याग का, मनोरंजन पर आत्मरंजन का और भोग पर योग का अंकुश रहे तो गृहस्थ

जीवन भी कुछ शान्तिमय बन सकता है।

स्थितप्रज्ञ की पहली शर्त है—रागमुक्त चेतना का विकास। कभी-कभी बड़े-बड़े आचार्यों के मन में भी रागभाव आ जाता है। चाहे उसे धर्मानुराग कह दिया जाए अथवा प्रशस्त राग कह दिया जाए, परन्तु वीतरागता की स्थिति में वह भी बाधक बन जाता है। इसलिए वीतराग बनने के लिए रागभाव को छोड़ना आवश्यक होता है। रागभाव/आसक्ति के कारण आदमी का पतन हो सकता है, वह विनाश तक जा सकता है। तेरापंथ धर्मसंघ के पांचवें आचार्य वीतरागकल्प आचार्य मघवा थे। इतिहास बताता है कि वे कितने प्रशान्त स्वभाव वाले, कितने आसक्तिमुक्त और कितने महान् सन्त थे। एक बार योजनापूर्वक किसी साधु ने उन पर धूल गिरा दी। वे उठे, धूल को साफ किया और पुनः अपने काम में लग गए। उनके गुरु जयाचार्य ने पूछा—'मघजी! क्या हुआ?' मघजी ने कहा—'किसी से धूल गिर गई है। आंधी-तूफान में तो धूल आती ही रहती है। कोई खास बात नहीं है।' स्थिप्रज्ञ वह होता है जो हर स्थिति में सम रहना जानता है।

स्थितप्रज्ञ की दूसरी शर्त है—भयमुक्त चेतना का विकास। आदमी को भय लगता है। कई बार आदमी इतना भयाक्रान्त हो जाता है कि सामान्य स्थिति में भी घबरा जाता है। दिल्ली में एक दुबला-पतला आदमी रहता था। उसने बताया कि यहां जो यमुना पर पुल बना हुआ है, उसके ऊपर से जब गुजरता हूं तब मुझे बहुत भय लगता है। उससे पूछा गया कि भय किस बात का लगता है? उसने कहा—'भय तो एक ही बात का लगता है कि कहीं पुल गिर गया तो मेरा क्या होगा?' हालांकि यमुना के उस पुल के ऊपर से भारी-भरकम गाड़ियां निकलती हैं तब भी पुल नहीं गिरता तो भला उस दुबले-पतले आदमी के चढ़ने से वह पुल कैसे गिर सकता है? संभव है उसके भीतर भय की कोई ग्रंथि बन गई थी। आदमी अंधेरे में डरता है। भूत आदि की कल्पना दिमाग में आ जाती है और वह कल्पना आदमी को व्यथित बना देती है। आदमी हिंस्र-पशुओं से डरता है, अपमान से भी डरता है यह उसकी दुर्बलता है। डर की स्थिति सामने आने पर घबराना नहीं चाहिए, अपितु उसका मुकाबला करना चाहिए। कई बार आदमी असद्भय से भयभीत हो जाता है। वास्तविकता कुछ नहीं होती, काल्पनिक भय दिमाग में घुस जाता है और वह आदमी को परेशान करता रहता है।

भयमुक्ति के लिए आदमी को किसी का आलम्बन लेना चाहिए। मंत्र एक

प्रकार का आलम्बन है। आदमी अपने आराध्य का भक्तियुक्त स्मरण करे, जप करे तो भय की स्थिति में वह मंत्र उसे मनोबल प्रदान करता है, सहारा देता है और उस सहारे से आदमी कठिनाई को भी पार कर सकता है। अनेक लोग भय के कारण तनावग्रस्त रहते हैं और मन ही मन दुःख भोगते रहते हैं। जहां भय है, वहां सत्य की साधना में भी कठिनाई पैदा हो जाती है। भयभीत आदमी झूठ भी बोल सकता है और हिंसा भी कर सकता है। इसलिए सत्य की साधना के लिए और अहिंसा की आराधना के लिए भी आवश्यक है कि आदमी अभय का अभ्यास करे। भय किसी से न हो, न मौत का भय रहे, न बीमारी का भय रहे, किसी भी स्थिति का भय न हो। आदमी भीतर से निर्भीक रहे, भयमुक्त रहे तो वह स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

स्थितप्रज्ञ की तीसरी शर्त है—आवेशमुक्त चेतना का विकास। जो आदमी आवेशमुक्त हो जाता है वह स्थितप्रज्ञ बन सकता है। प्रायः प्रतिकूल स्थिति में आदमी को गुस्सा आ जाता है, किन्तु जिसने शान्ति का अभ्यास किया है, क्षमा का अभ्यास किया है, वह व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति में भी आक्रोश नहीं करता, बड़े शान्त भाव और प्रसन्न मन से उसे सहन कर लेता है। सन्त एकनाथ गोदावरी में स्नान करके पुनः लौट रहे थे। एक आदमी ने उन पर थूक दिया। सन्त एकनाथ ने दूसरी बार स्नान किया। उस व्यक्ति ने फिर थूक दिया। यह क्रम चलता रहा। आखिर थूकने वाला व्यक्ति थक गया। उसने विनम्र निवेदन किया—'सन्त महोदय! मुझे माफ करना। मैंने आपके साथ दुर्व्यवहार किया है।' सन्त ने कहा—'तुमने बार-बार थूका इसलिए मुझे बार-बार मां गोदावरी में स्नान करने का मौका मिला, अन्यथा प्रतिदिन एक बार ही स्नान करता हूं। इसमें गुस्सा किस बात का? तुम तो मेरे उपकारी हो।' बहुत कठिन बात है प्रतिकूलता की स्थिति में शान्त रह जाना, आवेश में नहीं आना। महापुरुषों के जीवन को देखें—उन्होंने किस प्रकार क्षमा की साधना की थी, कितना सहन किया था?

जो व्यक्ति रागमुक्त हो जाता है, भयमुक्त हो जाता है और आवेशमुक्त हो जाता है, वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बन सकता है। जैन वाङ्मय का वीतराग अथवा स्थितात्मा और गीता का स्थितप्रज्ञ, इन तीनों में बड़ी समानता है। आदमी अभ्यास के द्वारा, निष्ठा के द्वारा वीतराग अथवा स्थितप्रज्ञ की भूमिका तक पहुंच सकता है।

६

आत्मदर्शन

आर्हत वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**संपिक्खई अप्पगमप्पएणं**—स्वयं, स्वयं को देखें। प्रेक्षाध्यान का यह एक आधारभूत सूत्र है कि अपने-आपको देखें। आदमी की आंखें बाहर देखती हैं। वह भीतर में भी देखने का अभ्यास करे। भीतर की ओर देखने का मतलब है—स्वयं को देखना, आत्म-साक्षात्कार करने की दिशा मे आगे बढ़ना। जो व्यक्ति स्वयं का विश्लेषण करता है, स्वयं की अच्छाइयों और कमियों को देखता है और फिर अच्छाइयों को बढ़ाने का और कमियों को दूर करने का प्रयास करता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से भी आगे बढ़ सकता है और व्यावहारिक दृष्टि से भी आगे बढ़ सकता है, प्रगति कर सकता है। स्वयं को देखते-देखते व्यक्ति आत्मा तक पहुंच सके, वह आध्यात्मिक आकांक्षा होती है। अनेक धार्मिक लोगों में आत्मदर्शन की भावना होती है।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा को कौन देख सकता है? जिस आदमी का मनरूपी जल राग-द्वेष रूपी तरंगों से तरंगित नहीं होता है, वही व्यक्ति आत्मतत्त्व को देख सकता है। राग-द्वेष-युक्त व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। एक व्यक्ति पानी से भरे तालाब के भीतरी भाग—अन्तस्तल को देखना चाहता है। परन्तु तालाब का पानी यदि तरंगित है तो तालाब का भीतरी भाग देखना कठिन और असंभव-सा हो जाता है। तालाब में लहरें न भी उठें, किन्तु पानी गन्दा हो तो भी तालाब का भीतरी भाग नहीं देखा जा सकता। तालाब का अन्तस्तल तभी देखा जा सकता है जब पानी अतरंगित हो और साथ में स्वच्छ भी हो।

एक आदमी दर्पण में अपना चेहरा देखना चाहता है, परन्तु दर्पण हिल रहा है तो चेहरा देखने में कठिनाई हो सकती है। यदि दर्पण स्थिर है, किन्तु गन्दा है, दर्पण के ऊपर मैल का आवरण है अथवा देखने वाला अचक्षु हो तो भी चेहरा नहीं देखा जा सकता। दर्पण में अपना चेहरा देखने के लिए जरूरी है कि आदमी चक्षुष्मान् हो, दर्पण स्थिर हो, स्वच्छ हो और अनावृत हो। आदमी का मन भी अनेक अवस्थाओं वाला है। उसमें विभिन्न भाव उभरते रहते हैं। वह कभी व्यग्र बन जाता है तो कभी एकाग्र भी बन जाता है। मुख्यतया मन की तीन अवस्थाएं हैं—व्यग्र मन, एकाग्र मन और मनोतीत। व्यग्र मन वह होता है, जो विभिन्न आलम्बनों पर घूमता रहता है और एकाग्र मन वह होता है, जो एक बिन्दु पर अथवा एक आलम्बन पर स्थिर हो जाता है। इसके बाद तीसरी अवस्था है मनोतीत। इसमें आदमी मन से भी आगे चला जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में जैसा कहा गया है—इन्द्रियां पर हैं, इन्द्रियों से आगे मन है, मन से आगे बुद्धि है और बुद्धि से भी आगे आत्मा है, परमतत्त्व है। आदमी में उस परमतत्त्व के साक्षात्कार की आकांक्षा रहती है। किन्तु जब तक राग-द्वेष के भाव विघटित नहीं होते हैं, आत्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता।

आत्म-दर्शन करना एक सरल मार्ग भी है और कठिन मार्ग भी है। सरल मार्ग इसलिए है कि राग-द्वेष के छूटते ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता है और कठिन मार्ग इसलिए है कि राग-द्वेष को छोड़ना आसान काम नहीं है। आत्मा को पाने के लिए बहुत तपना पड़ता है, खपना होता है, साधना करनी होती है और मन को इतना पवित्र बनाना होता है कि अमन की अवस्था प्राप्त हो जाए।

आत्मा को देखना बहुत ऊंची बात है। आत्म-दर्शन से पहले आदमी इतना-सा प्रयास करे कि पहले अपनी कमियों को देखना शुरू करे। जो आरोपण दूसरों पर किया जाता है वह यदि स्वयं पर किया जाए तो समाधान का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। आदमी को विकास करना है तो स्वयं की कमियों को देखना होगा और उन्हें अनुभव कर दूर करने का प्रयास करना होगा। यह भी एक प्रकार का स्वयं का दर्शन है। गुरुदेव तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ ने आत्म-दर्शन के लिए एक ध्यान की विधि निदर्शित की, वह है—प्रेक्षाध्यान। ध्यान के द्वारा आदमी चंचलता से स्थिरता की ओर आगे बढ़ता है। बाहर से भीतर की ओर बढ़ता है। प्रवृत्ति से निवृत्ति में आता है। भोग से योग की ओर अग्रसर होता है। अन्धकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान करता है। अनेक लोग ध्यान के अभ्यास के द्वारा अपनी समस्याओं से मुक्ति पाते हैं और अध्यात्म की दिशा में प्रवर्द्धमान बनते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का एक सूक्त है—'रहो भीतर, जीओ बाहर।' आदमी बाहर जीता है क्योंकि व्यवहार को निभाना है, किन्तु बाहर के व्यवहार को निभाते हुए भी आदमी भीतर में रहना सीखे। जो कुछ हो रहा है उसे देखना सीखे, ज्ञाता-द्रष्टा भाव विकसित करे। दो प्रकार के आदमी होते हैं—एक व्यक्ति, जो बाहर रहने वाला है, आसक्ति के साथ पदार्थों का भोग करता है और दूसरा व्यक्ति, जो भीतर रहने वाला है, आवश्यकता की पूर्ति के लिए पदार्थों का उपयोग करता है। आदमी अनासक्ति के साथ पदार्थों का उपयोग करे, ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करे, मन को पवित्र बनाए और राग-द्वेषमुक्त जीवन जीने का प्रयास करे तो अपने-आपको देखने की बात निष्पन्न हो सकती है।

७

आत्मस्थता

आर्हत वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए—**आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतकर ही मनुष्य सुख पाता है। आत्मा को जीतने का अर्थ है आत्मस्थ होना। जो व्यक्ति जितना आत्मस्थ होता है, उतना ही विजित होता है। कुछ बिन्दुओं के आधार पर यह परीक्षण किया जा सकता है कि व्यक्ति आत्मस्थ बन पाया है अथवा नहीं?

आत्मस्थता का पहला लक्षण है—निःस्पृहता। अगर साधक के मन में निःस्पृहता का भाव हो, कोई विशेष आकांक्षा न हो, न पदाकांक्षा, न धनकांक्षा, न नामाकांक्षा, न प्रतिष्ठाकांक्षा तो मानना चाहिए कि आत्मस्थता का विकास हुआ है। एक आदमी जो विक्षिप्त है, अविकसित है, कुछ समझता ही नहीं कि पद क्या? प्रतिष्ठा क्या? ख्याति क्या? उसके मन में आकांक्षा का न होना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं होती। किन्तु जो व्यक्ति इन सब बातों को समझता है, फिर भी मन में आकांक्षा नहीं है तो समझना चाहिए कि आत्मस्थता की स्थिति का निर्माण हो रहा है। तेरापंथ धर्मसंघ में मुनिश्री खेतसी स्वामी इस संदर्भ में प्रसिद्ध हैं। वे आचार्य भिक्षु के परम भक्त सेवाभावी और बड़े विनम्र संत थे। उनके लिए सतयुगी विशेषण लगाया गया। द्वितीय आचार्यश्री भारीमल ने जब भावी व्यवस्था की, तब अपने उत्तराधिकार पत्र में दो नाम अंकित किए—खेतसी तथा रायचन्द्र। फिर दूसरा चिन्तन सामने आने पर एक नाम को अप्रभावी बना दिया गया। उस समय मुनिश्री खेतसी ने जैसा व्यवहार किया, जिस उदारता का परिचय दिया, वह इस बात का द्योतक है कि वे बड़े निःस्पृह थे। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने संस्कार-बोध में लिखा है—

पद आए जाए भले, रहें सहज मध्यस्थ।
साधें बन कर सतयुगी, सदा साधुता स्वस्थ।।

पद आ गया तो ठीक, पद चला गया तो ठीक, कोई तर्क नहीं कि मेरा नाम हटा कैसे दिया? कई लोगों ने तो यहां तक कह दिया कि आप युवाचार्यश्री रायचन्द्रजी के संसारपक्षीय मामाजी हैं। आप तो नीचे बैठते हैं और भानजा ऊपर बैठता है, यह कितनी अटपटी बात है? मुनिश्री खेतसी स्वामी ने ऐसी बातों का भी करारा और मधुर जवाब दिया कि जब लड़के की शादी होती है तब घोड़ी पर लड़का बैठता है। उसका पिता तो अस्त-व्यस्त बना इधर-उधर कार्य में संलग्न रहता है। परन्तु अपने पुत्र को जब घोड़ी पर बैठा देखता है, तब वह कितना खुश होता है? इसी प्रकार रायचन्द्रजी मेरे संसारपक्षीय भानजे है। इनको जब मैं ऊपर बैठा हुआ देखता हूं तो मेरा मन बहुत प्रसन्न होता है। ऐसी स्थिति का निर्माण हो जाना आत्मस्थता अथवा निःस्पृहता का द्योतक है। अन्यथा आदमी का मन छोटी-छोटी बातों से भी खिन्न हो जाता है। **मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः**—हर स्थिति में आदमी निःस्पृह रहे, सहज रहे तो आत्मस्थ होने का एक लक्षण माना जा सकता है।

दूसरा लक्षण है—ऋजुता। अगर मनुष्य में ऋजुता है तो मानना चाहिए कि वह कुछ अंशों में आत्मस्थ बन गया है अथवा बन रहा है। भीतर कुछ और बाहर कुछ, या दिखाना कुछ और करना कुछ, यह छलना है, माया है। यह माया/छलना आदमी को ले डूबती है। मुझे स्मरण हो रहा है, पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी लाडनूं में विराजमान थे। वहां महिलाओं का सम्मेलन हो रहा था। उसमें एक महिला खड़ी हुई और बोली—'गुरुदेव! मुझे दण्ड दे दीजिए।' पूज्य गुरुदेव ने पूछा—'दण्ड किस बात का?' तब उस बहन ने कहा—गुरुदेव! पहले मैं तपस्या बहुत करती थी और लम्बी/बड़ी तपस्याएं करती थी। किन्तु बीच में कभी-कभी भोजन भी कर लेती थी। मैंने बहुत पाप किया है। मैंने लोगों को यह दिखाने का प्रयास किया कि मैं बहुत लम्बी तपस्याएं करती हूं। किन्तु वह तो दिखावा था। अब मुझे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

आदमी लम्बी तपस्या करे या न करे, यह कोई खास बात नहीं है, किन्तु व्यक्ति के जीवन में ऋजुता रहनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में ठीक कहा गया कि निर्वाण वह व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसके जीवन में धर्म होता है और धर्म उसके जीवन में होता है जिसका हृदय/आत्मा शुद्ध होती है

और आत्मा शुद्ध उसकी होती है जो ऋजुभूत होता है, सरल होता है। आदमी के जीवन में ऋजुता रहे तो आत्मस्थ होने का एक लक्षण पुष्ट हो सकता है।

तीसरा लक्षण है—भीरुता। भय अनेक समस्याओं को पैदा करता है। आदमी को यह भय रहता है कि अगर मेरी गलती सामने आ जाएगी तो मेरी प्रतिष्ठा कम हो जाएगी, मुझे दण्डित होना पड़ेगा, मेरी अवनति हो जाएगी। इस प्रकार के भय के वशीभूत होकर आदमी झूठ बोल जाता है। परन्तु यह भी विचार करना चाहिए कि व्यक्ति मृषावाद का प्रयोग कर, अपनी भूल को छिपाकर यहां तो बच सकता है, किन्तु आगे कोई बचाव नहीं होता। वहां तो राई-पाई का हिसाब होता है। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने कहा है—

भूल छिपाना पाप है, करो निवेदन साफ।
यहां बचोगे पर नहीं, आगे होगी माफ।।

इसलिए आदमी भय को छोड़े और निर्भीकता का अभ्यास करे। कई बार आदमी छोटे-छोटे प्राणियों से भी डर जाता है। कोई छिपकली से डरता है तो कोई चूहे से, कोई बिल्ली से, कोई सर्प से। रात्रि के अंधेरे से तो अनेक लोग डरते हैं। किन्तु अभ्यास के द्वारा भय को भी दूर किया जा सकता है। आस्थाबल, मंत्रबल और शरीर की अनित्यता की अनुप्रेक्षा का अभ्यास आदमी को भयमुक्त बना सकता है। मैं जब छोटा था, सरदारशहर में रहा करता था। हमारे संसारपक्ष में दो मकान थे। दोनों के बीच काफी दूरी थी। एक घर से दूसरे घर जाते समय एक लम्बी गली पार करनी होती थी। उस गली में कुछ कुत्ते रहते थे। मैं जब उस गली से निकलता तो कुत्ते भौंकने लगते और मेरे पीछे हो जाते। मैंने सोचा, यह तो समस्या हो गई। इस गली से तो बार-बार आना जाना पड़ता है और ये कुत्ते परेशान करते रहते हैं। उस समय मैंने एक उपाय सोचा और हाथ में एक डण्डा रखना शुरू कर दिया। फिर मैं निर्भीकता के साथ उस गली में जाने लगा। ज्योंही कुत्ते निकट आते, मैं डण्डे को घुमाना शुरू कर देता। कुत्ते कुछ भौंकते, किन्तु मुझे काट नहीं पाते। मैं निर्भयता के साथ आगे बढ़ जाता। मंत्रबल, आस्थाबल भी एक प्रकार का डण्डा है, आलम्बन है, जो भय-रूपी कुत्तों से आदमी को बचा सकता है। जिस व्यक्ति में अभय का भाव पुष्ट है तो मानना चाहिए कि वह कुछ आत्मस्थ बना है, आत्मा के निकट पहुंच गया है।

एक साधक के मन में निर्भीकता का विकास होना चाहिए। जैसे—एक

सैनिक बाहरी समरांगण में विजय पाना चाहता है, वैसे ही एक साधक भी आत्म-समरांगण में विजय पाने का प्रयास करे। उसके लिए साधक निःस्पृहता, ऋजुता और निर्भीकता की साधना करे। अगर इन तत्त्वों का विकास हो जाए तो माना जा सकता है कि आत्मस्थता का विकास हुआ है।

८

अमरता

आर्हत वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**अमरायइ महासड्ढी।** काम और अर्थ में जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भांति आचरण करता है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों तथा उनके साधनभूत अर्थ की चिन्ता से व्याकुल होता है और उनके परिणामों को नहीं जानता है, वह दुःखी होता है। उसके दुःखी होने के दो कारण हो सकते हैं—काम और अर्थ की प्राप्ति न होने पर आकांक्षा से दुःखी बनता है और उनके नष्ट हो जाने पर शोक से दुःखी बनता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो धन, भवन, परिवार आदि में आसक्त रहते हैं। वे इस प्रकार का जीवन जीते हैं कि मानों उन्हें हमेशा यहीं रहना है, कभी मरना नहीं है। मानो उन्हें मरने की आशंका ही नहीं है। राजगृह में मगधसेना नाम की गणिका थी। वहां धन नामक सार्थवाह आया। वह बहुत बड़ा धनी था। उसके रूप, यौवन और धन से आकृष्ट होकर मगधसेना उसके पास गई। यह आय और व्यय का लेखा करने में तल्लीन था। उसने मगधसेना को देखा तक नहीं। उसके अहं को चोट लगी। वह उदास हो गई। मगध सम्राट् जरासंध ने पूछा—'तुम उदास क्यों हो?' गणिका ने कहा—'अमर के पास बैठने से।' 'अमर कौन?' सम्राट् ने पूछा। गणिका ने कहा—'धन सार्थवाह! जिसे धन की ही चिन्ता है। उसे मेरी उपस्थिति का भी बोध नहीं हुआ, तब मरने का बोध कैसे होगा?' यह ठीक है कि अर्थलोलुप व्यक्ति मृत्यु को नहीं देखता और जो मृत्यु को देखता है, वह अर्थलोलुप हो नहीं सकता।

आदमी को यह समझना चाहिए कि इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति अमर

नहीं होता। एक दिन सबका आयुष्य समाप्त होता है और मौत नामक तत्त्व आदमी पर अंकुश कर लेता है। जब आदमी के दिमाग में यह बात आती है कि मुझे मरना है, मुझे कहीं आगे जाना है, तब मन में पाप से दूर होने का भाव भी पैदा होता है।

एक युवक सन्त के पास गया और बोला—'मुनिप्रवर! मैंने सुना है कि आप बड़े तपस्वी हैं, उपशान्त कषायी हैं। आपको गुस्सा बिल्कुल नहीं आता। किन्तु मैं इस बात को नहीं मानता। कोई हाड़-मांस का पुतला गुस्सा न करे, ऐसा हो नहीं सकता।' सन्त ने कहा—'यह तुम्हारी इच्छा है, मानो या मत मानो।' युवक बोला—'आप मुझे सिद्ध करके बताएं कि आपको गुस्सा बिल्कुल नहीं आता।' थोड़ी देर बातचीत के बाद सन्त ने कहा—'अरे! तुम क्या बात करते हो? तुम्हारी तो सात दिनों में मौत है।' मौत की बात को सुनकर युवक थोड़ा सहम गया। बात संपन्न कर घर चला गया। अब तो दिमाग में एक ही बात कि मेरी सात दिनों में मौत है। पलंग पर लेट गया। एकमात्र भगवान को याद करने लगा। एक, दो, तीन...., छह दिन बीत गए। सातवां दिन आया। सन्त उसके घर गए और देखा कि वह तो खाट पर लेटा हुआ है और भगवान को याद कर रहा है। मुनिजी को अपने घर में देखते ही वह बोला—'बाबाजी! आज सातवां दिन है। अब मेरी मौत में कितना समय शेष है?' सन्त ने कहा—'वत्स! तुम्हारी मौत आज नहीं है।' जैसे ही युवक ने यह सुना कि मेरी मौत नहीं है, वह तत्काल खड़ा हो गया। चेहरे पर मुस्कान आ गई और बोला—'महात्मन्! आपने ही तो कहा था कि तुम्हारी सात दिनों में मौत है। फिर मौत कैसे टल गई।' सन्त ने कहा—'वत्स! मैंने यह कहा था कि सात दिन होते हैं—रविवार, सोमवार, मंगलवार आदि इस सात दिनों में हो तुम्हारी मौत होगी।' कहने का तात्पर्य ही बदल गया।

संन्यासी ने युवक से पूछा—'बेटा! ये सात दिन तुम्हारे कैसे बीते? क्या तुमको कभी गुस्सा आया? अहंकार किया?' युवक बोला—'महात्मन्! गुस्सा किसको आए? मुझे तो दिन रात मौत ही मौत दिखाई दे रही थी। इन सात दिनों में न क्रोध, न अहंकार, न माया और न लोभ। कुछ भी नहीं आया।' सन्त ने अपनी बात को सिद्ध करते हुए कहा—'वत्स! मुझे तो पल-पल मौत दिखाई दे रही है, फिर मुझे गुस्सा कैसे आ सकता है?

अब युवक इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया कि आदमी गुस्से से मुक्त हो तो सकता है, उसके लिए साधना की जरूरत होती है। चेतना

को कुछ जगाने की जरूरत रहती है। यह मौत एक दर्शन है। मौत एक अंकुश है। संसार की अनित्यता आदमी की स्मृति में बनी रहे। जैन साहित्य में बारह भावनाओं—अनित्य, अशरण, एकत्व आदि के बारे में वर्णन मिलता है। अनित्य-भावना का चिन्तन करते-करते व्यक्ति विमुक्ति की ओर आगे बढ़ सकता है। सांसारिक मोह-माया का भाव कम हो सकता है। इसलिए आदमी इन भावनाओं को भी समझे। बौद्ध दर्शन में 'सर्वं क्षणिकं'—सब-कुछ क्षणिक है, इस बात पर बहुत बल दिया गया है। यह क्षणिकवाद भी आदमी को मोह से दूर होने की प्रेरणा देता है।

इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति अमर नहीं है। सबको एक-न-एक दिन तो जाना ही होता है। यह बात ज्ञात होने पर भी कई व्यक्ति अमर की तरह आचरण करते हैं। हम अनेक गांवों, शहरों, नगरों में गए हैं, किन्तु हमें एक भी व्यक्ति अमर नहीं मिला। हां, अमर नाम तो कई व्यक्तियों के हो सकते हैं। अमरचन्द, अमरकुमार, अमरनाथ आदि अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं। देवता को भी अमर कहा जाता है। उनका आयुष्य लम्बा अवश्य होता है, किन्तु वह भी कभी पूरा होता है। अमर कहलाने वाले देव भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस दुनिया में अमर एकमात्र आत्मा है, परमात्मा है। आदमी आत्मा का स्मरण करे, परमात्मा का ध्यान करे और यह अनुचिन्तन करे कि मेरे भीतर परमात्म गुणों का विकास हो। इस प्रकार का चिन्तन करने वाला और तदनुरूप आचरण करने वाला व्यक्ति अमरत्व यानी परमात्म तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

९

आत्माभिमुखता

आर्हत वाङ्मय में एक सुन्दर शब्द का प्रयोग हुआ है—**एगप्पमुहे।** साधक एकमात्र अपनी आत्मा की ओर मुंह रखे। दिन-रात उसके सामने आत्मा रहे। वह ऐसा कोई काम न करे जिससे आत्मा मलिन हो। साधक आत्मा के प्रति जागरूक रहे। जब तक शरीर आत्मा के साथ है, तब तक शरीर का भी आत्मा के लिए अधिक-से-अधिक उपयोग करे। जैन आगम उत्तराध्ययन में बताया गया है—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।।

शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। मोक्षा की एषणा करने वाले उसे तैर जाते हैं, किन्तु शरीर रूपी नौका में यदि छिद्र हो जाए और पानी भीतर आ जाए तो वह नौका भी डुबोने वाली हो जाती है। प्रश्न हो सकता है। शरीर में छिद्र कैसे होते हैं? शरीर के द्वारा जब आदमी पाप करता है, हिंसा करता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है, गलत काम करता है तो मानना चाहिए कि इस शरीर रूपी नौका में छिद्र हो रहे हैं। इन छिद्रों से आने वाला पानी जीव रूपी नविक को डुबोने वाला हो जाता है। इसलिए साधक का मात्र एक आत्मा की ओर ध्यान रहे। वह यह चिन्तन करे कि मेरी आत्मा शुद्ध रहे, पवित्र रहे। मैं अपनी साधना के द्वारा उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर सकूं। जीवन-निर्वाह के लिए पुद्‌गलों को तो अपेक्षा से ग्रहण करना होता है, परन्तु साधक का आकर्षण आत्मा की ओर रहे। बहुत वर्षों पहले इसी तथ्य को प्रकाशित करने वाली एक कहानी सुनी थी। एक राजा

दूर देश की यात्रा के लिए गया हुआ था। राजा की चार रानियां थीं। चारों ने अपनी इष्ट वस्तुओं की मांग के साथ पत्र सम्प्रेषित किए। पहली रानी ने पत्र में लिखा था, वहां से आएं तब मेरे लिए अच्छी-अच्छी साड़ियां लेते आना। दूसरी रानी ने लिखा कि मेरे लिए एक सुन्दर-सा हार लेकर आना। तीसरी रानी ने चूड़ियां मंगवाई। चौथी रानी के पत्र में मात्र अंक १ लिखा हुआ था। राजा समझ नहीं पाया। मंत्री के साथ विचार-विमर्श किया। मंत्री ने कहा—चौथी रानी ने लिखा है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मात्र एक आप चाहिए। आप जल्दी पधार जाइए। राजा ने तीनों रानियों की मांगों के अनुरूप सामान ले लिया और कुछ दिनों बाद वह स्वदेश पहुंचा। रानियों के मन में अपनी याचित वस्तुओं के प्रति आकांक्षाएं थीं। राजा ने पहली रानी को सड़ियां, दूसरी को हार और तीसरी को चूड़ियां दे दीं। शेष सामान चौथी रानी को दे दिया गया। तीनों रानियों ने कहा—आपने हमारे साथ पक्षपात किया है। हम तीनों को तो थोड़ा-थोड़ा सामान दिया है और शेष सारा सामान चौथी रानी को दे दिया। राजा ने कहा—जिसने जो मांगा, मैंने वह दे दिया। चौथी रानी ने सिर्फ मुझे मांगा था, इसलिए मेरे पास जो सामान है, वह सब इसी का होगा। अध्यात्म का साधक भी पुद्गलों में आसक्त न हो। वह केवल एक आत्मा की ही मांग करे।

जैन दर्शन में आत्मा के लिए बताया गया है कि आत्मा अरूपी है, अमूर्त है। उसको आंखों से देखा नहीं जा सकता। आत्मा का तो अनुभव ही किया जा सकता है। संसारी आत्मा पापों से भारी रहती है। उस पर इतना सघन आवरण होता है मानो लोहावरण हो। उस लोहावरण में से आत्मा को देखा नहीं जा सकता। आत्मा को देखने के लिए एक प्रक्रिया से गुजरना होगा। जैसे दूध से मक्खन प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है, वैसे ही आत्म-साक्षात्कार की भी अपनी प्रक्रिया है। साधना के द्वारा जब आत्मा कर्म-रजों से हलकी हो जाती है। तब आत्म-दर्शन आसान हो जाता है।

धार्मिक साहित्य में जगह-जगह कहा गया कि मानव जीवन दुर्लभ है। इस मानव जीवन का सदुपयोग करना चाहिए और पूरा लाभ उठाना चाहिए। क्योंकि आत्मा का दर्शन, आत्मा की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति इस मानव जीवन से ही संभव है। इसलिए आदमी को यह चिन्तन करना चाहिए कि मैंने कैसा कर्म किया है? मेरा आचरण कैसे है? आदमी जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसको फल मिलता है। इसलिए आदमी अपने आचरण के प्रति जागरूक रहे। वह ऐसा कोई आचरण न करे, जिससे उसकी आत्मा कर्म-रजों

से भारी बन जाए। ऐसा सोचकर जो व्यक्ति आत्मा को पापों से बचाता है, उसकी आत्मा शुद्ध रहती है, हलकी बनती है। भगवान महावीर की आत्मा भी जब तक कर्मों से भारी बनी हुई थी, भव-भ्रमण करती रही। वह जब हलकी बनी तो उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया। कर्म-निर्जरा हेतु उन्होंने स्वयं को साधना के लिए, अध्यात्म के लिए समर्पित कर दिया। उनका आत्मा के प्रति, अध्यात्म के प्रति जो समर्पण था, उसे अद्भुत कहा जा सकता है। उन्होंने लगभग साढ़े बारह वर्षों तक कितनी साधना की? कितनी तपस्या की और कितना कष्ट सहन किया? इन कष्टों को सहन करते हुए भी उनकी दृष्टि एकमात्र आत्मा पर टिकी हुई थी। इसलिए कष्ट देने वालों के प्रति भी उनके मन में द्वेष नहीं था। उस तपस्या, साधना और आत्माभिमुखता की निष्पत्ति यह आई कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवलज्ञान प्राप्ति के साथ ही अध्यात्म की एक बड़ी मंजिल प्राप्त हो जाती है अथवा यों कहूं कि सब-कुछ प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मात्र भगवान महावीर ही नहीं, हर भव्य आत्मा साधना के द्वारा अपने आत्म-स्वरूप में अवस्थित हो सकती है, बशर्ते कि साधक सदैव आत्माभिमुख बना रहे।

१०

ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया

दुनियां में अनंत आत्माएं हैं। इस श्रृंखला में मनुष्य एक है। गुणात्मकता की दृष्टि से मनुष्यों को चार भागों में बांटा जा सकता है—१. दुरात्मा २. सदात्मा ३. महात्मा ४. परमात्मा।

स्थूल रूप से जिन व्यक्तियों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता, जिनमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुर्गुणों का बाहुल्य होता है, ऐसी आत्मा को दुरात्मा की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे व्यक्ति करुणाशील नहीं होते और इनके द्वारा किसी का भला नहीं होता। दुरात्मा व्यक्तियों के पास यदि विद्या आयेगी तो वह विवाद बढ़ाने में योगभूत बनेगी। यदि धन संपदा आयेगी तो उसका दुरुपयोग तो होगा ही साथ ही अहंकार को भी पैदा करेगा। इस कोटि के व्यक्ति यदि सम्पन्न होंगे तो निश्चित रूप से किसी दूसरे का बुरा ही करेंगे, बुरा ही सोचेंगे।

दूसरी कोटि के व्यक्ति होते हैं—सदात्मा। ऐसे व्यक्ति सज्जनता से ओतप्रोत होते हैं। गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी शालीनता, शिष्टता के साथ सामान्यतया अच्छा जीवन जीते हैं।

तीसरी श्रेणी के व्यक्ति होते हैं—महात्मा। जो आत्माएं सांसारिक मोहमाया का सर्वथा परित्याग कर संन्यास के पथ पर अग्रसर होती हैं एवं त्याग मार्ग को स्वीकार कर लेती हैं, ऐसी आत्माएं महात्मा कहलाने का गौरव प्राप्त कर लेती हैं। इनके जीवन में स्व-कल्याण के साथ-साथ परोपकार के भाव वर्द्धमान बनते हैं। इनके जीवन में संयम की प्रधानता होती है। इन्हें साधु

संन्यासी के नाम से आदर दिया जाता है।

चौथी कोटि है—परमात्मा की। ऐसी आत्माएं जो महात्मा श्रेणी को जीवंतता के साथ जीकर परमात्म स्वरूप तक पहुंच जाती है, उन्हें परमात्मा कहा जाता है। जो आत्माएं अपनी उत्कृष्ट साधना के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर संसार में विद्यमान हों अथवा मोक्ष प्राप्त कर चुकी हों, उन्हें परमात्मा ही कहा जाता है।

हर व्यक्ति परमात्म-पद को प्राप्त कर सके यह कठिन है, क्योंकि यह एक श्रमसाध्य यात्रा है। महात्मा बनने में कोई कठिनाई नहीं है। पर इसके लिए भी सबल क्षयोपशम चाहिए। प्रबल पुरुषार्थ चाहिए। लक्ष्य के प्रति निष्ठा चाहिए। यदि हम इस भाषा में सोचें कि महात्मा बनना सहज नहीं है तो सदात्मा बनना तो हर व्यक्ति के लिए संभव है, भले ही वो श्रमसाध्य क्यों न हो। ध्यान साधना पद्धति के द्वारा व्यक्ति दुरात्म भाव को छोड़कर विकास की मंजिल तय करता हुआ क्रमशः सदात्मा बनकर आगे की यात्रा जारी रख सकता है। स्थूल तौर पर समझें तो महात्मा वे होते हैं जिनकी कथनी और करनी में समानता होती है। उनके मन में जो भाव हैं वे ही वाणी से मुखरित होते हैं एवं तदनुरूप आचरण में देखे जा सकते हैं। ठीक इसके विपरीत दुरात्मा व्यक्तियों की कथनी और करनी में समानता नहीं होती। आत्मा को उच्च बनाने के लिए जरूरी है— व्यक्ति के भावों की निर्मलता। यदि बाहरी वेश महात्मा का हो और भावों में मलिनता हो तो उसे ठीक नहीं कहा जा सकता।

भाव शुद्धि का विकास ध्यान की मुख्य निष्पत्ति है। व्यक्ति कषाय पर या यों कहें राग और द्वेष पर अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ पर काबू पा जाए तो भाव शुद्धि निश्चित होती है। व्यक्ति के भाव बदलते रहते हैं। चित्त की वृत्तियां भी बदलती रहती हैं। कभी क्रोध, कभी अहंकार, कभी लोभ और कभी ईर्ष्या। भाव क्षण-क्षण बदल कर आते रहते हैं। भावों में परिवर्तन परिष्कार जनित हो। क्रोध, अहंकार आदि के परिष्कार के प्रयोगों से मन शुद्ध हो सकता है। व्यक्ति हर क्षण सोचे कि अहंकार करूं तो भी किस बात का? मृत्यु तो अवश्यंभावी है। उसके आगे क्या अहंकार करूं। यह तो कभी भी, किसी भी क्षण आ सकती है। व्यक्ति चलते-चलते अकस्मात् मृत्यु का वरण कर लेता है। मौत के अनेक द्वार हैं। चाहे बीमारी हो अथवा दुर्घटना अथवा

अन्य कोई कारण हो, मृत्यु किसी भी द्वार से प्रवेश कर सकती है। जब मृत्यु पर हमारा वश नहीं तो अहंकर किस बात का किया जाये। अहंकार करना बड़ी बात नहीं है।

संत कबीर ने एक दोहे में कितना ठीक कहा है—

नमन खमन अरू दीनता, सबका आदर भाव।
कहे कबीरा वही बड़ा, जाका बड़ा स्वभाव।।

आदमी में नम्रता, क्षमाशीलता हो, जिसका स्वभाव बड़ा हो, वही बड़ा होता है। अर्थात् व्यक्ति सदात्मा तो बन ही जाये। महात्मा बन सके तो बड़ी बात है। यदि परमात्मा बनने की स्थिति तक पहुंच जाये तो समझ लें जीवन का सार निकाल लिया। व्यक्ति आत्म विश्लेषण करे, स्वयं में झांक कर देखे कि मेरा स्तर कौन-सा है? मुझमें कौनसी कमी है? यदि मैं एक साथ सबको नहीं छोड़ सकूं तो कम से कम एक पर ध्यान तो केन्द्रित करूं। निरंतर अनुप्रेक्षा कर, अभ्यास कर, उसका परिष्कार कर लूं। फिर दूसरी क्रमशः जो कमियां हैं उन्हें ठीक कर सकूं। साधक ध्यान करता है पर उसका लाभ उसे तब ही प्राप्त होता है जब उसमें गुणात्मकता विकसित हो। ध्यान तो करते चले जा रहे हैं और शुद्धि नहीं है तो उससे कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है। व्यक्ति सोने से पहले सोचे—आज मैं कौन-से भावों की गिरफ्त में रहा। क्या नकारात्मक (नेगेटिव) भाव मुझ पर हावी रहे या सकारात्मक (पोजिटिव) भावों का प्रभाव मुझ पर पड़ा।

यदि व्यक्ति की जीवन शैली ठीक है तो समझ लें आज का दिन सार्थक हो गया। यदि किसी प्रकार की त्रुटि व प्रमाद से आज का दिन व्यर्थ, निरर्थक गंवा दिया तो समझ लें कि आज का दिन मैंने खो दिया। व्यक्ति बार-बार सोचे, अपना आत्मनिरीक्षण करे और विचारणा करे कि अब मैं प्रमाद वश ऐसी गलती नहीं करूंगा। यह भी चिंतन करे कि मेरी प्रवृत्ति दुरात्मा की रही या सदात्मा की। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति सदात्मा दिखाई देता है, होता भी है और अगले क्षण में वह दुरात्मा का रूप धारण कर लेता है। निषेधात्मक भाव उसे घेर लेते हैं। यह भी संभव है कि व्यक्ति दुरात्मा था पर विधायक भावों के चिंतन से अगले ही क्षण सदात्मा बन गया।

भाव ही व्यक्ति के बंधन का कारण बनता है और भावों की शुद्धि ही उसे मोक्ष द्वार तक पहुंचाती है। ऊपर का परिवेश भी इसमें निमित्त बनता है। एक साधु है, साधु का वेश धारण किये हुए है। उसमें भी आक्रोश के भाव आ सकते हैं पर साधु वेश भी उसके लिए प्रेरणास्पद बन जाता है। तत्काल उसे भान होता है कि मैं साधु हूं। आवश्यकता है व्यक्ति अपना आत्म निरीक्षण, आत्म विश्लेषण कर अपनी भूमिका को जाने, आगे बढ़ने का प्रयास करे। और क्रमशः आगे बढ़ते हुए परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त करे। भावशुद्धि के आरोहण का क्रम बना रहना चाहिए। आत्मा यदि निर्मल है तो निश्चित रूप से उसे यहां भी शांति प्राप्त होगी और आगे बढ़ने पर भी सर्वत्र शांति का साम्राज्य प्राप्त हो सकेगा।

११

भाव शुद्धि : जीवन विकास की प्रक्रिया

आगमों में कहा गया है कि व्यक्ति पदार्थ का भोग-उपभोग करता है, उसका आसेवन करता है। शरीर की अपेक्षा है, इसलिए वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, अन्य भी अनेक प्रकार की क्रियाएं करता है। एक वाक्य में कहा जाए तो पदार्थ हमारे जीवन की एक अनिवार्यता है। दूसरे शब्दों में हमारा जीवन पदार्थ सापेक्ष है, पदार्थ निरपेक्ष होकर कोई भी व्यक्ति जी नहीं सकता।

जैन दर्शन में षड्द्रव्यों की विस्तृत चर्चा की गई है। छह द्रव्यों में एक द्रव्य है—पुद्‌गलास्तिकाय। उसका विवेचन करते हुए बताया गया है कि पुद्‌गल क्षण-क्षण में जीव के काम आता है। उसे बोलने के लिए पुद्‌गलों की अपेक्षा होती है, चिंतन-मनन के लिए पुद्‌गलों की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार जीवन को अन्यान्य सभी प्रकार की सूक्ष्म-स्थूल प्रवृत्तियों में पुद्‌गलों की अनिवार्य अपेक्षा होती है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्राणी को पदार्थों की दुनिया में जीना है। अब चिंतन का बिन्दु यह है कि पदार्थों की दुनिया में जीता हुआ व्यक्ति अपनी चेतना को विकृत होने से कैसे बचाए? उसे परिशुद्ध कैसे रखे? इस संदर्भ में आगमकारों का स्पष्ट कथन है—

न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।।

पदार्थ और कामभोग हमारे अंतर में समता उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी तरह हमारी चेतना और भावों को विकृत करने की भी क्षमता उनमें नहीं है।

समता और विकृति का कारण राग-द्वेष का अभाव और भाव है। जो व्यक्ति उनके प्रति राग-द्वेष का भाव करता है, वह उस मोह के कारण अपने चेतन को विकृत कर लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पदार्थों और कामभोगों के प्रति राग-द्वेष का भाव नहीं करता वह अपनी आत्मा को समता में अवस्थित कर लेता है। सार-संक्षेप यह है कि यदि व्यक्ति के भाव शुद्ध हैं, वह द्रष्टाभाव में रहता है, ज्ञाताभाव में जीता है तो पदार्थों का भोग-उपभोग करता हुआ भी वह समता में रह सकता है। किन्तु जहां भावों में राग-द्वेष है, द्रष्टा-ज्ञाता भाव का अभाव है, वहां व्यक्ति पदार्थों का परित्याग करके भी विषमता उत्पन्न कर लेता है, अपनी चेतना को विकृत कर लेता है।

विषयों का भोग हो, पर विषयों के प्रति आसक्ति और आकर्षण का भाव न हो। आकर्षण भीतर का हो, आत्म-तत्त्व के प्रति हो। यह साधना का एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कहा गया है–

या प्रीतिरविवेकानां, विषयेष्वनुपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे, विषयान् मापसर्पतु।।

विषयों के प्रति जो आकर्षण है, वह आकर्षण परमात्मा की ओर हो जाए। बस, साधना निष्पन्न हो जाएगी, सार्थक हो जाएगी।

परमात्मा कहो या आत्मा कहो, एक ही बात है, क्योंकि परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा का विशुद्ध रूप ही परमात्मा है। इस अपेक्षा से आत्मा की उपासना परमात्मा की उपासना है। कहा भी गया है–

यः परमात्मा स एवाहं, योहं परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।

जो परमात्मा है, वह मैं ही हूं। मैं हूं, वह परमात्मा है। अतः मुझे अपनी ही उपासना करनी है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग में कहा जाता है 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।' अर्थात् अपने से अपने को देखो, स्वयं, स्वयं को देखो। यह आत्मदर्शन की प्रक्रिया ही परमात्म-दर्शन की प्रक्रिया है, साधना है।

साधना का जहां तक प्रश्न है, राग-द्वेष से मुक्त हो जाने की साधना से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं। बहुत सही तो यह है कि साधना का मूलभूत उद्देश्य ही राग-द्वेष से मुक्त होना है, वीतराग बनना है। यह राग-द्वेष से मुक्त होने की, वीतराग बनने की साधना जिस व्यक्ति के हाथ लग जाती है, मानना

चाहिए उसे बहुत कुछ प्राप्त हो गया है। एक अपेक्षा से सब कुछ प्राप्त हो गया है। कुछ भी प्राप्त करना अवशेष नहीं रहा। आत्म-दर्शन की प्रक्रिया में अपने राग-द्वेष मुक्त आत्मस्वरूप या परमात्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न/अभ्यास किया जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है, वीतरागता की दिशा में विकास कैसे किया जाए? इसका समाधान देते हुए बताया गया है कि अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा वीतरागता या द्वेषमुक्ति की दिशा में क्रमशः विकास किया जा सकता है। व्यक्ति अपने क्षण-क्षण के प्रति जागरूक बन जाए। पुनः पुनः आत्म निरीक्षण करता रहे। मानो एक घंटा किसी से वार्तालाप किया। वार्तालाप के बाद वह गहराई से ध्यान दे कि इस दौरान उसके मन में अशुद्ध भाव आए या नहीं? आए तो कितनी बार आए? किस प्रसंग में आए?......इस तरह एक और स्व समीक्षण या आत्म-निरीक्षण चलता रहे और दूसरी ओर वीतरागमुक्त रहने का सलक्ष्य अभ्यास चलता रहे तो राग-द्वेष से काफी अंशों में मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। आगे चलकर तो पूर्ण वीतराग अवस्था को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

वीतरागता की साधना में भावना-शुद्धि का बहुत मूल्य है। एक दृष्टि से तो भावना ही सब कुछ है। यदि भावना शुद्ध है तो सब कुछ ठीक है। इसी प्रकार यदि भावना अशुद्ध है तो सब कुछ गड़बड़ है। लाभ के स्थान पर नुकसान हो जाता है। भावना अशुद्ध है तो पाप-कर्म का बंधन होगा। इसके विपरीत भाव शुद्ध हैं तो पुण्य का बंधन और कर्मों का निर्जरण होगा।

अब प्रश्न है भाव-शुद्धि या भावना-शुद्धि कैसे हो? अनेक साधन हैं, अनेक उपाय हैं। पर सबसे पहले लक्ष्य-निर्धारण जरूरी है। लक्ष्य-निर्धारण के बाद प्रक्रिया काम करती है। प्रक्रिया के अंतर्गत स्वाध्याय को भाव-शुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जा सकता है। इसी क्रम में जप का प्रयोग भी बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। ध्यान भी भाव-शुद्धि का प्रमुख साधन ही है।

प्रायश्चित्त भी भाव-शुद्धि का एक प्रयोग है। इसको एक प्रकार की चिकित्सा भी कह सकते हैं। चिकित्सा रोगी को कष्ट नहीं देती, बल्कि रोग का निवारण करती है। ठीक इसी तरह प्रायश्चित्त भी राग-द्वेष अथवा तज्जनित अपराधों के शोधन के लिए किया जाता है। प्रायश्चित्त तप का एक प्रकार भी

है। उसके लिए भी अर्हता चाहिए। 'ठाणं' में दोषों की आलोचना करने के लिए उसे ही योग्य माना है, जो जाति संपन्न, कुल संपन्न, विनय संपन्न, ज्ञान संपन्न, दर्शन संपन्न, चारित्र संपन्न, क्षांत, दांत अमायावी और अपश्चातापी हो।

साधक इस बात को समझे कि जहां अपनी भूल को ऋजुतापूर्वक स्वीकार करने की तैयारी होती है, वहीं परिष्कार और परिवर्तन संभव हो पाता है। जहां अज्ञानवश या अहंवश व्यक्ति अपने प्रमाद का अहसास ही न करे अथवा अहसास कर स्वीकार ही न करे तो फिर मन का शोधन और भावों की शुद्धि कैसे संभावित है? अतः प्रायश्चित्त के लिए आलोचना करते समय शिशु सम निश्छलता होनी चाहिए।

प्रेक्षाध्यान साधना की एक व्यापक पद्धति है। इसके अंतर्गत अनेक प्रयोग हैं। उनमें से कुछेक प्रयोग भी यदि व्यक्ति समझ ले और उनका व्यवस्थित अभ्यास करे तो भाव-शुद्धि की दिशा में अच्छी गति हो सकती है। अर्हं की ध्वनि इस दृष्टि से एक सहज और सरल प्रयोग है। दीर्घश्वास के प्रयोग से एक तरफ भाव शुद्धि होती है, तो दूसरी ओर स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त होता है। कायोत्सर्ग का प्रयोग भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रयोग से तनावमुक्ति तो होती ही है, भाव-शुद्धि भी अच्छे ढंग से सधती है। इस क्रम में और भी कुछ प्रयोग बताए जा सकते हैं। पर सभी प्रयोग हर व्यक्ति संभवतः नहीं कर सकता। पर कुछेक प्रयोग तो वह कर ही सकता है। मेरा अभिमत है कि कुछेक प्रयोगों को व्यक्ति यदि अच्छे ढंग से समझकर उनका निष्ठा के साथ व्यवस्थित और निरंतर अभ्यास करता रहे तो भाव-शुद्धि की दिशा में अच्छी गति कर सकता है।

१२

साधना का प्रवेश द्वार

समुद्र में एक विशाल जहाज चल रहा था। वर्षा का मौसम था। अचानक भीषण तूफान शुरू हो गया। भयंकर संकट की स्थिति पैदा हो गई। तूफानी लहरों से जहाज डगमगाने लगा। एक कौने में बैठे हुए कुछ लोग तत्त्वचर्चा कर रहे थे। किंतु उस समय सबका ध्यान विचलित हो गया।

जीवन और मृत्यु के संघर्ष में सबके मन की स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई किंतु एक व्यक्ति आंख बन्द किए आत्म-समाधि में लीन था। उसके चेहरे पर घबराहट का कोई निशान नहीं था। थोड़ी देर बाद तूफान शांत हो गया। जहाज अपनी गति से चलने लगा। सभी लोग उस शांति से बैठे हुए व्यक्ति से पूछने लगे—क्या तुम्हें तूफान का भय नहीं लगता? उसने कहा—पहले मेरे मन में बहुत तूफान उठा करते थे, किन्तु अब जब कभी तूफान उठता है, मैं भीतर के एक विशाल द्वीप में प्रविष्ट हो जाता हूं। जहां बड़ी से बड़ी लहर भी स्पर्श नहीं कर सकती। मुझे विचलित नहीं कर सकती। उस द्वीप को मैं धर्म के नाम से संबोधित करता हूं।

श्रमण केशीकुमार ने गणधर इन्द्रभूति गौतम से पूछा—

महाउदगवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मन्नसी मुणी।।

पानी की महान धारा में बहते हुए प्राणियों के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप क्या है? गणधर गौतम ने कहा—

जरामरणवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणो।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं।।

मृत्यु और बुढ़ापे के भीषण जल-प्रवाह में बहने वाले प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।

प्रश्न हो सकता है कि आदमी धर्म क्यों करे? धार्मिक/आत्मार्थी व्यक्ति का लक्ष्य होता है—मोक्ष प्राप्त करना। उपलक्ष्य अनेक हो सकते हैं, किन्तु अंतिम लक्ष्य होता है—परम शांति, परम सुख और परम समाधि को प्राप्त करना। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए मार्ग-चयन आवश्यक होता है। आचार्य उमास्वाति ने अति संक्षेप में बहुत सुन्दर मोक्ष-मार्ग का निरुपण किया है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र को मोक्ष-मार्ग बताया गया है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया भी मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ाने वाली होती है किन्तु यह भी तथ्य है कि सम्यग् दर्शन के अभाव में जो क्रिया की जाती है उसका वह परिणाम नहीं मिलता जो परिणाम सम्यग् दृष्टि संपन्न व्यक्ति को मिलता है। प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ने इसी तथ्य को उजागर करते हुए लिखा है—

जे समकित विण म्हैं चारित्र नीं किरिया रे।
बार अनंत करी, पिण काज न सरिया रे।।
हिव समकित चारित दोनूं गुण पायो रे।
वेदन समपणै, सह्यां लाभ सवायो रे।।

अब सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणों की प्राप्ति हुई है। समता से वेदना को सहने से सवाया लाभ हो सकता है।

सम्यग्-दृष्टि के अभाव में कितनी बार आचार क्रिया का पालन किया होगा, किन्तु मोक्ष उपलब्ध नहीं हो सका।

मात्र क्रिया का पालन तो अभव्य जीव भी कर सकता है। वह संघ का नेता बन सकता है। उसके द्वारा दीक्षित मुनि मोक्ष चले जाते हैं परंतु वह कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जो क्रिया सम्यग् दृष्टि व्यक्ति करता है वही क्रिया मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी करता है किन्तु दोनों की क्रिया में बहुत अंतर होता है। एक ही प्रकार की क्रिया की निष्पत्ति अलग-अलग आती है।

तीन बातें है—लक्ष्य, क्रिया और निष्पत्ति। क्रिया में समानता है किन्तु

लक्ष्य में भिन्नता है तो निष्पत्ति में भिन्नता आ जाती है। निष्पत्ति लक्ष्य का अनुगमन करती है। जैसा दृष्टिकोण, जैसा लक्ष्य प्रायः निष्पत्ति वैसी ही होती है। साधना के क्षेत्र में लक्ष्य का बहुत महत्त्व होता है। यदि लक्ष्य ठीक नहीं बनता है, दृष्टिकोण सम्यक् नहीं बनता है तो मात्र वेश-परिवर्तन से बहुत लाभ नहीं मिल सकता।

भूखा आदमी था। भीख मांगकर अपना काम चलाता था। एक बार संन्यासियों के आश्रम में पहुंच गया। वहां भी भीख मांगने लगा। किसी संन्यासी ने कहा—यदि तुम संन्यास स्वीकार कर लो तो अच्छी तरह पेट भरकर भोजन कर सकोगे। भिखारी का लक्ष्य था—भोजन-प्राप्ति। उसने संन्यास-जीवन स्वीकार कर लिया। दीक्षित होने के बाद संन्यासियों ने उसे अच्छी तरह भोजन करा दिया और सुला दिया। प्रातः काल उठा, वह बहुत प्रसन्न था, क्योंकि बहुत दिनों के बाद उसे इतनी अच्छी नींद आई थी और भूख भी शांत हो गई थी। वह गुरुजी के पास गया और बोला—

खावण मिलगी खीचड़ी, ओढ़ण मिलगी सोड़।
चेलो पूछै गुरुजी नै, मोक्ष आ ही है या और।।

क्योंकि घर में उसे पर्याप्त भोजन मिलता नहीं था। उसकी भूख शांत होती नहीं थी। हमेशा भीख मांगनी पड़ती थी। किन्तु संन्यासी बनते ही ठाठ-बाट से रहने लगा।

घर मांही मिलतो नहीं, खावण पूरो अनाज।
भेख लियो भगवान रो, करवा लाग्या राज।।

जहां केवल क्षुधा-शांति ही लक्ष्य होता है, वहां साधना की बात गौण हो जाती है। आदमी भोजन के संदर्भ में भी यह लक्ष्य बना ले कि मुझे शरीर को टिकाने के लिए भोजन करना है क्योंकि शरीर ही धर्म करने का पहला साधन बताया गया है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

आदमी का दृष्टिकोण सम्यक् हो, सही पुरुषार्थ हो तो वह अपनी मंजिल को प्राप्त कर सकता है। उसकी लक्ष्य संसिद्धि की संभावना बहुत प्रबल बन जाती है।

१३

दृष्टि कहां टिकी है?

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। वह अपने बुद्धिबल और विवेक से लक्ष्य का निर्धारण करने की क्षमता रखता है। वह जैसा लक्ष्य बनाता है तदनुरूप अपने कदमों को आगे बढ़ाता है। विवेच्य विषय है कि लक्ष्य कैसा है, सही है या गलत? सम्यक् है या मिथ्या? लक्ष्य निर्धारण करने से पहले यह जानना अपेक्षित है कि दृष्टिकोण सही है या नहीं? प्रसिद्ध कथ्य है—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। दृष्टि के सम्यक् और असम्यक् होने से ही लक्ष्य-प्रतिमा का स्वरूप निर्धारित होता है।

जैन दर्शन में नौ तत्त्व माने गए हैं। उनमें पांचवां तत्त्व है—आश्रव। आश्रव के पांच बिन्दुओं में पहला बिन्दु है—मिथ्यात्व—असम्यक् दृष्टि। दुर्भाग्य के निर्माण में इसका प्रमुख हाथ है। दृष्टिकोण गलत होने का अभिप्राय है—मूल में ही भूल होना। मूल नींव ही खोखली हो तो बहुमंजिली इमारत के स्थायित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? अध्यात्म साधना की दृष्टि से यह यक्ष प्रश्न है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण किसकी परिक्रमा कर रहा है—पदार्थ की या आत्मा की? पदार्थपरक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति धन वैभव, स्वजन-परिजन को ही त्राण मानने की भूल कर सकता है। आत्मपरक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति आत्मा को ही केंद्र में रखता है, पदार्थ परिधि में रहते हैं।

सामान्यतया व्यक्ति का पदार्थ के प्रति गहरा आकर्षण होता है, क्योंकि उसमें बाह्य चाकचिक्य होता है, लुभावनापन होता है। इसलिए बहिर्मुखी चेतना बरबस उसकी ओर खिंचती चली जाती है। आत्मत्व उससे दूर होता चला

जाता है। पर ज्यों ही दृष्टि का आकाश पथ स्वच्छ होता है, निर्मल होता है तो उसे यथार्थ का बोध हो जाता है। वह पदार्थ जगत से मुंह मोड़ लेता है और उसके कदम आत्मरमण की दिशा में प्रस्थित हो जाते हैं।

एक राजा था। वह बहुत प्रभावशाली था। बुद्धि और वैभव दोनों से संपन्न था। आसपास के राजा भी समय-समय पर उससे परामर्श लिया करते थे। एक दिन राजा अपनी शय्या पर सो रहा था। सोए-सोए उसके दिमाग में कुछ कल्पनाएं उभरने लगीं। वह मन-ही-मन अपने राजसी वैभव एवं विलासिता पर इठलाने लगा। सोचा—मैं कितना भाग्यशाली और पुण्यवान हूं। कितना विशाल है मेरा परिवार, कितना समृद्ध है मेरा अंतःपुर, कितना सक्षम है मेरा सैन्यबल, कितना अक्षय है मेरा राजकोष। अन्यत्र ऐसा दुर्लभ है। ओह! मेरे खजाने के समक्ष कुबेर के खजाने की क्या विसात? मेरे रनिवास की शोभा-सुषमा को देखकर स्वर्ग की अप्सराएं भी ईर्ष्या करती होंगी। मेरा हर वचन आदेश होता है। हर व्यक्ति मेरी आज्ञा को शिरोरत्नमिव धारण करता है। इस तरह अहं की हवा से राजा का तन-मन फूलने लगा।

राजा संस्कृत भाषा का विद्वान था। संस्कृत में श्लोक रचना करना उसकी रुचि का विषय था। दिमाग में कल्पना आ जाए तो श्लोक रचना आसानी से हो जाती है। राजा ने मन-मस्तिष्क में उफनते भावों को शब्द के धागे में पिरोना शुरू किया। तीन चरण बन गए। चौथा चरण बनना अवशेष था। यह सत्य है कि जब तक पूरा श्लोक नहीं बन जाता है तब तक रचनाकार की जुबान पर वे पंक्तियां पुनः पुनः थिरकती रहती हैं। राजा बार-बार उन तीन चरणों को गुनगुना रहा था—

चेतोहरा युवतयः स्वजनाऽनुकूलः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः।

(मेरी चित्ताकर्षक रानियां हैं, अनुकूल स्वजनवर्ग है, श्रेष्ठ कुटुम्बीजन हैं। कर्मकर विनम्र और आज्ञा-पालनक हैं, हाथी, घोड़ों के रूप में विशाल सेना है....)

बार-बार गुनगुनाने पर भी चौथा-चरण बन नहीं रहा था। संयोग की बात, उसी रात एक चोर राजमहल में चोरी करने के लिए आया हुआ था। वह मौका

पाकर राजा के शयनकक्ष में घुस गया और पलंग के नीचे दुबककर बैठ गया। चोर भी संस्कृत भाषा का विज्ञ और आशुकविता करने में सिद्धहस्त था। समस्यापूर्ति करने का उसे अभ्यास था।

राजा द्वारा गुनगुनाये जाते श्लोक के तीन चरण चोर ने सुन लिए। राजा के दिमाग में चौथा चरण नहीं आ रहा है, यह भी वह जान गया। उसके मस्तिष्कीय तंतुओं में हलचल हुई और समस्यापूर्ति के रूप में चौथा चरण उसने बना लिया। मैं चोर हूं, वह इस बात को तो भूल गया और राजा द्वारा उच्चारित तीन चरणों के बाद चौथे चरण का संगान करते हुए बोला–

सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।।

राज्य, वैभव आदि सब तभी तक है, जब तक आंख खुली है। आंख बंद होने के बाद कुछ नहीं है। अर्थात् जिस दिन यमराज के मेहमान बन जाओगे, फिर संसार में तुम्हारे लिए कुछ नहीं बचेगा। अतः किस पर गर्व कर रहे हो?

चोर द्वारा उच्चारित इस एक पंक्ति ने राजा की आंखें खोल दी। उसे सम्यक् दृष्टि मिल गई। वह चारों ओर विस्फारित नेत्रों से देखने लगा–ऐसी ज्ञान की बात किसने कही है? कैसे कही है? उसने आवाज दी–पलंग के नीचे जो भी है, वह मेरे सामने उपस्थित हो। चोर सामने उपस्थित हुआ। उसने विनम्रता के साथ कहा–राजन्! मैं आया तो चोरी करने था पर आप द्वारा समुच्चारित श्लोक सुनकर मैं 'चोर हूं' इस बात को भूल गया। मेरा संस्कृत प्रेम उमड़ पड़ा। परिणामस्वरूप मैं चौथे चरण की पूर्ति करने का दुस्साहस कर बैठा। राजन! मैं अपराधी हूं। आप महान हैं। मुझे क्षमा करें। अवसरज्ञ राजा ने कहा–तुम व्यक्तिगत जीवन में कुछ भी करते हो, इस क्षण मुझे उससे कुछ लेना-देना नहीं है। इस वक्त तो तुम मेरे गुरु बन गए हो। तुमने मुझे आज सम्यक्दृष्टि दी है। यथार्थता से परिचय कराया है। आंख बंद होने के बाद कुछ भी नहीं रहता–यह कहकर तुमने मेरा सत्य से साक्षात्कार करवा दिया। अब तुम मेरे गुरु हो गए हो। गुरु होने के कारण तुम मुझसे जो चाहो मांग सकते हो। चोर की समझ में कुछ नहीं आया कि राजा यह सब क्यों कह रहा है? तभी राजा ने पुनः कहा–आज मेरे ज्ञानचक्षु उद्घाटित हुए हैं। मुझे वास्तविकता का बोध हो गया है। अतएव शुभस्यशीघ्रम्–इस सूक्त को आत्मसात करते हुए मैं शीघ्र ही संन्यास लेना चाहता हूं। मुझे यह राज्य अब तृण के समान प्रतीत हो

रहा है। इसके प्रति मेरे मन में कोई आकर्षण नहीं है। तुम यदि मेरा राज्य चाहो तो मैं उसे भी सहर्ष देने के लिए तैयार हूं।

चोर बोला—राजन! आपको जैसे इस वाक्य से बोधपाठ मिला है, वैसे ही मेरा मन भी उद्‌बुद्ध हो गया है। आप जिस राज्य को निस्सार समझ कर छोड़ रहे है, भला मैं उसका भोग कैसे कर सकता हूं। मैं तो आपके साथ ही संन्यास स्वीकार करना चाहता हूं।

देखते-देखते राजा और चोर दोनों संन्यासी बन गए। एक ही पंक्ति ने दोनों को स्पंदित कर दिया। यह है सम्यक् दृष्टि का परिणाम। जब तक राजा की दृष्टि सम्यक् नहीं थी, वह धन-वैभव, भोग-विलास को ही सब कुछ समझ रहा था। ज्योंही आंखों से रंगीन चश्मा उतरा, दृष्टि सम्यक् बनी कि पदार्थ पदार्थ हो गया और आत्मा आत्मा।

१४

कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

शिष्य ने गुरु के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—भंते! मोक्ष कैसे मिलेगा? क्या श्वेत वस्त्र पहनने से मोक्ष मिलेगा? क्या दिगम्बर बनने से मोक्ष मिलेगा? क्या तर्कवाद या तत्त्ववाद से मोक्ष मिलेगा? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा—

श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।।

वत्स! न श्वेताम्बर बनने से मुक्ति होगी। न दिगम्बर बनने से मुक्ति होगी। न तर्कवाद से मुक्ति मिलेगी न तत्त्ववाद से। न ही किसी पक्ष का आश्रय लेने से मुक्ति मिलेगी। कषाय मुक्ति ही मुक्ति है।

कषाय की प्रबलता ही चेतना को विकृत बनाती है। कर्मों के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—आवारक, विकारक और प्रतिरोधक। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय—ये दोनों कर्म आवारक होते हैं। इनका काम है पर्दा डालना। इनके उदय से ज्ञान और दर्शन पर आवरण आ जाता है किन्तु ये विकार पैदा नहीं करते। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का संवेदन कराता है। अंतराय कर्म अवरोधक होता है। विकार पैदा करनेवाला एक मात्र मोहनीय कर्म है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा आदि मोहनीय कर्म की ही शाखा-प्रशाखाएं हैं। कर्म निरंतर आते रहते हैं। उनका आश्रवण होता रहता है। जैसे कुएं में नाले के द्वारा पानी अंदर पहुंचता है, वैसे ही आश्रव के माध्यम से कर्म आत्मा तक पहुंचते हैं। यदि कर्म प्रवेश के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया जाए और संचित कर्म

को निर्जीर्ण कर दिया जाए अथवा संवर और निर्जरा की साधना की जाए तो आदमी मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ सकता है। ज्यों-ज्यों संवर और निर्जरा का अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों साधक आत्मशुद्धि के मार्ग को प्रशस्त करता है।

आत्म-विशुद्धि का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है– कषाय। कषाय को परिभाषित करते हुए लिखा गया–

सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।
संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति।।

जो क्रोध आदि जीव के सुख-दुःख को उत्पन्न करनेवाले कर्म रूप खेत का कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए चारों गतियां मर्यादा रूप है, उसे कषाय कहते है। सकषायी व्यक्ति इन चारों गतियों में ही भ्रमण करता रहता है। पांचवी गति (सिद्ध गति) तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि आदमी अकषाय की साधना करे, अनासक्ति का विकास करे और राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता की ओर प्रस्थान करे। जितना-जितना राग, उतनी-उतनी आसक्ति। जितना-जितना वैराग्य उतनी उतनी अनासक्ति। आसक्ति जहां चित्त को विकृत बनाती है अनासक्ति वहीं चित्त की निर्मलता को बढ़ाती है। चित्त की पवित्रता के लिए जरूरी है–कषाय विलय की साधना। उपशम का अभ्यास। जब उपशम का भाव जागता है तब सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति विद्वेष का भाव समाप्त हो जाता है। न सुख की चाह होती है और न ही दुःख से द्वेष होता है। सुख और दुःख इन दोनों स्थितियों में चेतना में कोई विकार नहीं आता। महाराज दशरथ ने जब राम को राज्याभिषेक के लिए बुलाया तब भी राम के चेहरे पर हर्ष का अतिरेक नहीं था और वनवास गए तब भी राम के चेहरे पर उदासी नहीं थी। जब समता का भाव, वीतरागता का भाव विकसित होने लगता है तब अक्षय आनंद प्रकट हो जाता है। हमारे भीतर अखूट खजाना है, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य का।

एक ग्वाला चमकीला पत्थर लेकर सेठ के पास पहुंचा। सेठ ने उस पत्थर के बदले अपना भंडार खोल दिया और कहा–जितना धन लेना चाहो ले सकते हो। गांव के लोग सेठ का उपहास करते हुए कहने लगे–कितना मूर्ख है? एक पत्थर के बदले पूरा खजाना खाली कर दिया। सेठ ने कोई प्रतिवाद नहीं किया। शरद पूर्णिमा का दिन आया। सेठ ने गांव के लोगों को निमंत्रित किया। मध्यरात्रि के समय स्वर्ण थाल में उस चमकीले पत्थर को रखा। चंद्रमा की

किरणें जैसे ही उस पत्थर पर गिरने लगी, वह पत्थर हीरे उगलने लगा। लोग आश्चर्याभिभूत हो गए। सेठ ने रहस्योद्‌घाटन करते हुए बताया कि यह साधारण पत्थर नहीं, यह चंद्रकांतमणि है। हर वर्ष इसी रात्रि और इसी समय यह मणि हीरे उगलने का सामर्थ्य रखती है। यह चन्द्रकान्तमणि इस स्थूल जगत् में ही नहीं, हमारे सूक्ष्म जगत् में भी है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उस मणि के मूल्य को समझ सकें। उसकी शक्ति को पहचान सकें। हमारे भीतर भी खजाना भरा हुआ है। उस खजाने में क्रोध है तो क्षमा भी है। अहंकार है तो मृदुता भी है। माया है तो ऋजुता भी है और लोभ है तो संतोष भी है। क्रोध, मान, माया और लोभ को क्षीण करने और क्षमा, मृद्दता, ऋजुता, संतोष की वृत्ति को विकसित करने का सफल प्रयास हो तो साधना स्वतः सिद्ध हो सकती है।

१५

कोहं असच्चं कुव्वेज्जा

अवन्ती नगरी में धन नामक श्रेष्ठी के घर पुत्री का जन्म हुआ। आठ पुत्रों के बाद एक पुत्री का जन्म होने के कारण पुत्री 'भट्टा' अपने माता-पिता की अत्यंत स्नेहपात्र बनी हुई थी। सबसे छोटी और लाडली बेटी होने के कारण पिता ने सबको आदेश दिया कि कोई भी इसको तूंकारा नहीं दे सकेगा। इस आदेश से उसका नाम पड़ गया—'अतूंकारी भट्टा'। माता-पिता व भाई का अति लाड-प्यार उसको अहंकारी और क्रोधी बनाने में सहभागी बन गया। अब उसके मन में यह आकांक्षा उत्पन्न हो गई कि परिवार के सब लोग उसका कहना मानें। मन ही मन उसने यह भी प्रतिज्ञा कर ली कि मैं उसी युवक के साथ शादी करूंगी, जो जीवनभर मेरे आदेश में चलना स्वीकार करे। कई वर्ष बीत गये, ऐसा आज्ञाकारी युवक प्राप्त नहीं हुआ। आखिर वहां के राजा जितशत्रु का मंत्री 'सुबुद्धि' इस बात को मानने के लिए तैयार हुआ। उपयुक्त समय पर भट्टा की शादी मंत्री के साथ कर दी गई। शादी के बाद भट्टा अपने ससुराल में रहने लग गई। सुबुद्धि भी अपनी पत्नी की हर आज्ञा का अक्षरशः पालन करने में जागरुक रहता था। पत्नी का अपने पति के लिए एक आदेश था—-'रात में नौ बजे तक घर पहुंच जाना।' मंत्री इस आदेश का ध्यान रखता, वह अपना कार्यक्रम इस प्रकार समायोजित करता कि नौ बजे से पहले-पहले घर पहुंचा जा सके। भट्टा की आज्ञा का कहीं उल्लंघन न हो जाए।

एक दिन की बात। राजा के सामने कोई आवश्यक समस्या उत्पन्न हो गई। विचार-विमर्श करते-करते आधी रात बीत गई। अर्धरात्रि के बाद मंत्री घर

पहुंचा। आज्ञा की अवहेलना से अतूंकारी का क्रोध उबल पड़ा। उसने पति के लिए दरवाजा खोला और स्वयं बाहर निकल गई। सुबुद्धि ने उसे मनाने का बहुत प्रयास किया, अपनी भूल के लिए क्षमा-प्रार्थना की, किंतु उसने एक न सुनी। वह क्रोध में व्याकुल बनी रात्रि के घनघोर अंधकार में जंगल की तरफ जा रही थी कि अचानक चोरों ने उसे पकड़कर पल्लीपति को सौंप दिया। पल्लीपति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा, पर वह पतिव्रता नारी थी। प्यार से समझाने पर भी और भयंकर त्रास देने पर भी अतूंकारी टस से मस नहीं हुई। अंत में निराश होकर पल्लीपति ने उसको 'रक्त-व्यापारी' को बेच दिया। रक्त-व्यापारी निरंतर उसका रक्त निकालकर बेचता, जिससे अतूंकारी भट्टा का शरीर मात्र हड्डियों का ढांचा बनकर रह गया। इस भयंकर वेदना से अतूंकारी का हृदय-परिवर्तन हो गया। वह समझ गई कि क्रोध मनुष्य का प्रबल शत्रु है। उस समय यदि मैंने क्रोध न किया होता तो शायद आज मेरी यह स्थिति न होती। अब उसने हमेशा-हमेशा के लिए क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण कर ली। एक बार उसका भाई अपनी बहन को खोजता हुआ वहीं पहुंच गया, जहां अतूंकारी का रक्त निकाल कर बेचा जाता था। भाई ने बहन को देखते ही पहचान लिया और वहां उसकी कीमत चुकाकर बहन को अपने घर ले आया। अब अतूंकारी अपने पति की आज्ञा का पालन करती और क्रोध को तो मानो उसने जीर्ण-वस्त्र की भांति बिलकुल अलग कर दिया।

अतूंकारी भट्टा की क्षमाशीलता की प्रशंसा जब देवराज इंद्र ने अपनी सभा में की तो एक देव ने इस बात को यथार्थ न मानकर, परीक्षा करने की सोची। वह मुनि का रूप धारण कर अतूंकारी के घर आया और 'लक्षपाक' तेल मांगा। दासी ज्योंही लक्षपाक तेल का घड़ा लेकर आई, देव ने अपनी माया से घड़े को फोड़ दिया। इस तरह एक के बाद एक तीन घड़े देव ने फोड़ डाले। इतनी कीमती वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी अतूंकारी को तनिक भी गुस्सा नहीं आया। तब देव ने अपना असली रूप प्रकट किया, कंचन की वर्षा की और उसकी क्षमाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

क्रोध के कारण वह अतूंकारी भट्टा मंत्री के घर से चोरपल्ली में और फिर रक्त-व्यापारी के घर पहुंच गई। न जाने कितना कष्ट उसे सहन करना पड़ा। यह सब क्रोध का ही परिणाम है। क्रोध के दुष्परिणाम को हम 'चंडकौशिक' के रूप में भी देख सकते हैं जो कि पूर्व भव में बहुत बड़ा तपस्वी-ऋषि था पर

क्रोध के वशीभूत होकर देवलोक के बजाय तिर्यंच-योनि को प्राप्त हुआ।

सचमुच, क्रोध एक ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य उचित-अनुचित का भेद भूल जाता है और विवेकशून्य हो जाता है। अग्नि तो सिर्फ बाह्य वस्तुओं को ही जलाती है परंतु यह क्रोध का दावानल जब भड़क उठता है तो वह आत्मा के मूल गुणों का हनन कर डालता है। कुछ व्यक्ति सौभाग्य से सहज शांत होते हैं, प्रायः क्रोधमुक्त रहते हैं। मानो कि उन्होंने क्रोधोपशांति की साधना पहले से ही कर रखी है। कुछ व्यक्ति क्रोध स्वभाव वाले होते हैं। उनके लिए कुछ दिशानिर्देशन किया जा रहा है—क्रोध से व्यक्ति को कष्ट होता है, मन अशांत बनता है। सबसे पहली बात है कि क्रोधी व्यक्ति सम्यक् दर्शन प्राप्त करे कि क्रोध बुरा है। दूसरी सीढ़ी पर पादन्यास तब होता है जब व्यक्ति में यह संकल्प जागता है कि मुझे क्रोध से मुक्त बनना है। तीसरी सीढ़ी पर तब आरोहण होता है जब वह क्रोधमुक्ति के लिए निर्दिष्ट अभ्यास करने का मानस बना लेता है। क्रोधमुक्ति के लिए एक प्रयोग चतुष्पदी निर्दिष्ट की जा रही है जो कि उस (क्रोध मुक्ति की) दिशा में चौथी सीढ़ी है।

प्रथम पद—क्रोधी व्यक्ति रात्रि में शयन से पूर्व आत्मनिरीक्षण करे। वह आंख बंद कर स्थिरमुद्रा में स्थित होकर यह ध्यान दे कि प्रातः उठने के बाद से अब शयन तैयारी के समय तक के कालमान में मैंने कितनी बार क्रोध किया अथवा नहीं किया? यदि किया तो किस-किस के प्रति किया? किस कारण से किया? किस रूप में किया—मंद आवेश था, मध्यम आवेश था या तीव्र आवेश था? क्या बिना क्रोध किए काम नहीं चल सकता था? 'खैर, आज जो कुछ हुआ उसके लिए मैं अपने आपको उपालम्भ देता हूं, आत्म निन्दा करता हूं और कल क्रोध न करने का प्रयास करने का संकल्प करता हूं।'

इतना चिंतन व समीक्षण कर नमस्कार महामंत्र/अन्य किसी पवित्र मंत्र का स्मरण कर दिमाग को विचार-मुक्त करे एवं उसके ठीक बाद नींद के लक्ष्य से योगनिद्रा की मुद्रा में चला जाए। लेटने के बाद कोई विचार न आए, ऐसा प्रयास करे एवं आसानी से श्वास जितना लंबा हो सके लंबा करे, लंबा श्वास ले, लंबा श्वास छोड़े।

प्रातः जगने के बाद पुनः पवित्र मंत्र का स्मरण कर शयनपूर्व किया गया अपना संकल्प मन ही मन दोहराएं—'आज मुझे क्रोध मुक्त रहने का पूर्ण प्रयास

करना है।' यह क्रोधमुक्ति के प्रयोग का प्रथम पद है।

दूसरा पद—प्रतिदिन किसी एक निर्धारित समय पर १५ मिनिट तक दीर्घ श्वास का अभ्यास ध्यान की मुद्रा में करें। श्वास लेते समय कल्पना करें कि श्वास लेने के साथ मेरे भीतर शांति का भाव पुष्ट हो रहा है। श्वास छोड़ते समय चिंतन करें कि क्रोध का संस्कार बाहर जा रहा है। उसके बाद ५ मिनिट ज्योति केन्द्र (ललाट के मध्य भाग में) पर पूर्णिमा के चांद का दर्शन करें एवं शीतलता का अनुभव करें।

तीसरा पद—जब कभी लगे कि अब मुझे क्रोध आने वाला है, उस समय संभव हो तो कुछ समय (१०-१५ मिनट) के लिए वह स्थान (कमरा अथवा मकान) छोड़कर अन्यत्र कहीं अवस्थित हो जाए व दीर्घ श्वास का प्रयोग शुरू कर दें। स्थान छोड़ना संभव न हो तो वहीं पर १०-१५ मिनिट के लिए मौन कर ले व दीर्घ श्वास (कुंभक सहित) का प्रयोग करे।

चौथा पद—क्रोधमुक्ति के क्षेत्र में प्रसिद्ध आदर्श व्यक्ति को अपने मन मन्दिर में बिठाए। उदाहरण-स्वरूप—तेरापंथ के पांचवें आचार्य पूज्य श्री मघवा गणी को वीतराग-कल्प, महान् शांत मूर्ति माना जाता है। उन्हें अथवा तत्सम अन्य किसी व्यक्ति/व्यक्तित्व को बार-बार श्रद्धा से याद करे।

यह सारा प्रयोग छह महीने तक किया जाए तो साधारणतया मुझे विश्वास है कि प्रयोगकर्त्ता का क्रोध मंद हो जाएगा।

क्रोध की तीन भूमिकाएं हैं—१. अकारण या बिना विशेष कारण क्रोध आ जाना। २. सकारण क्रोध आना। ३. कारण उपस्थित होने पर भी लगभग क्रोध न आना। इसके बाद पूर्ण अक्रोध की स्थिति होती है। साधक यह चिंतन करे कि मैं कौनसी भूमिका में अवस्थित हूं? मुझे और क्या परिष्कार करना है? इस प्रकार साधना के अभ्यास के द्वारा व्यक्ति स्वयं एक सीमा तक अपनी मानसिक चिकित्सा कर सकता है। क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकता है।

१६

माणो विणयनासणो

जीव का स्वरूप है—भाव। ऐसा कोई भी जीव इस संसार में नहीं है जो सर्वथा भाव-शून्य हो। मुक्त आत्मा भी सर्वथा भावशून्य नहीं होती। भाव अतीत के संस्कारों के विपाक से भी निष्पन्न होते हैं और उनके विलय से भी निष्पन्न होते हैं। जैन पारिभाषिक शब्दावली में यों भी कहा जा सकता है कि भाव कर्मोदय स्वरूप भी हैं और कर्म के अनुदय स्वरूप भी हैं। कर्मों में मोहनीय-कर्म प्रमुख है। क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि-आदि भाव उसी के अंगोपांगभूत हैं। अहंकार भी मोहनीय-कर्म के परिवार का एक सदस्य है। अठारह पापों में इसका सातवां स्थान है। इसे अभिमान अथवा घमंड भी कहा जाता है। यह एक परिवर्जनीय भाव है और साधना में बाधकभूत भाव है। 'अहं' अथवा 'मैं' को बुरा माना जाता है। यह सत्य है, किंतु इसकी मीमांसा अपेक्षित है। अहं और मैं का प्रयोग साधारण रूप में बुरा कैसे हो सकता है? कौन नहीं कहता—मैं जाता हूं, मैं खाता हूं, मैं यह काम करूंगा, आदि-आदि। आगमों में भगवान महावीर के शब्द भी मिलते हैं—'अहं पुण गोयमा एवमाइक्खामि'—गौतम! मैं ऐसा कहता हूं—क्या यह अहं का प्रयोग अभिमान का सूचक है? वीतराग कभी घमंड करते ही नहीं। उनमें अहं होता ही नहीं। इसलिए अहं अथवा मैं का प्रयोग मात्र अभिमान है, ऐसा नहीं माना जा सकता। निर्मल भाव से किसी वस्तु-स्थिति के प्रकटीकरण में अहं अथवा मैं का प्रयोग अभिमान-सूचक नहीं होता। किंतु जहां यश— प्रतिष्ठा और ख्याति की भावना से आत्मोत्कर्ष प्रकट किया जाता है अथवा वैसी भावना भी होती

है, वह अहंकार है, घमंड है और वह त्याज्य है। इसकी परिभाषा इस रूप में की जा सकती है—सम्मान व प्रतिष्ठा की आकांक्षा और तदनुरूप प्रयास अभिमान है।

आमतौर से आदमी को अपनी प्रशंसा, ख्याति प्रिय होती है। अपनी निंदा अप्रिय होती है। जहां कहीं अपनी प्रतिष्ठा को चोट लगती है, व्यक्ति के मन में रोष का भाव भी जाग जाता है। ऐसी स्थितियों में रोष और क्रोध का जनक भी अहंकार बन जाता है। आदमी कार्य करता है, आमतौर से साथ में नाम और ख्याति की भावना भी रहती है। हालांकि यह मनोभूमिका बहुत बुरी तो नहीं है, किंतु अच्छी भी इसे नहीं कहा जा सकता। वह व्यक्ति निम्नस्तर का होता है, जो काम कम करता है अथवा नहीं करता है परंतु नाम, ख्याति की भावना अधिक रखता है। वह व्यक्ति मध्यम स्तर का होता है, जो काम भी करता है और उसके अनुरूप नाम की भावना भी रखता है। वह व्यक्ति उत्तम स्तर का होता है, जो निष्काम भाव से काम करता है, नाम और ख्याति की भावना नहीं रखता। इस स्तर वाले व्यक्ति उच्च कोटि के साधक होते हैं। यदि व्यक्ति के मन से नाम, ख्याति की भावना निकल जाये और केवल सेवा की भावना रहे तो व्यक्ति को बहुत आध्यात्मिक लाभ मिल सकता है। अनेक लोग अनुदान करते हैं, आर्थिक सौजन्य का प्रयोग करते हैं किंतु ऐसे आदमी कितने हैं जो अनुदान करते हैं पर नाम की भावना नहीं रखते। किसी भवन-निर्माण में अनुदान किया तो अनुदाता की आकांक्षा रहती है कि बड़े अक्षरों में मुख्य स्थान पर मेरा नाम अंकित हो ताकि लोगों को पता लग सके कि मैंने अनुदान किया है। यदि ऐसे अनुदानों और विसर्जनों में नाम और यश की आकांक्षा न रहे तो वे बहुत परिष्कृत बन जाते हैं, उच्च कोटि के बन जाते हैं।

जो काम करते हैं, उनकी प्रशंसा भी की जाती है, कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन भी दिया जाता है परंतु कार्यकर्ताओं में प्रशंसा की भावना न रहे तो उनका कार्य भी उत्कृष्ट बन जाता है। प्रशंसा करने वालों को भी विवेक रखना चाहिए कि अति प्रशंसा के द्वारा वे प्रशंसितों का कहीं अहित न कर दें। उनमें नाम, ख्याति की भूख पैदा न कर दे। जब नाम, ख्याति की भूख जग जाती है फिर कार्यकर्त्ता उस पर आधारित बन जाता है। प्रशंसा होती है तो काम किया जाता है, नहीं होती है तो काम करने की इच्छा नहीं रहती है। छोटे-मोटे कार्यों के लिए तो कार्यकर्त्ता के मन में प्रशंसा की भावना जागनी ही नहीं चाहिए।

तेरापंथ के आद्य-संतों में दो संत हुए हैं—मुनिश्री थिरपालजी और मुनिश्री फतेहचंदजी। एक बार दोनों संत कोटा पधारे। उनके गुण सुनकर कोटा-नरेश उनके दर्शन के लिए आने की सोचने लगे। यह सुनते ही दोनों संतों ने कोटा से विहार कर दिया। वे बोले—'भिक्षु स्वामी आचार्य हैं। उनके पास दर्शन करने जाना ठीक है, हम तो साधारण साधु हैं।' ऐसे मान-सम्मान की चाह न रखने वाले वे संत थे। हालांकि अपेक्षानुसार नरेश आदि से मिलना अहंकार-प्रेरित ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किंतु जहां आत्म-ख्यापन की भावना प्रबल होती है वहां साधक की साधना को खतरा उत्पन्न हो सकता है। राजस्थानी भाषा में कहा गया है—

खाती बधवा दे नहीं, ज्यूं वन में वनराय।
त्यूं साधक की साधना, ख्याती देत खपाय।।

संस्कृत भाषा में भी कहा गया है—

अभिमानं सुरापानं, गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठाशूकरीविष्ठा, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

अभिमान मदिरा का पान है, गौरव की भावना, जो निम्नस्तर की हो, भयंकर नरक है। प्रतिष्ठा की भावना सूअर की विष्ठा के समान है। इन तीनों को छोड़कर व्यक्ति सुखी बन सकता है।

पूजा, सत्कार की भावना छद्मस्थता का एक लक्षण माना गया है।

अहंकार अथवा मद के आठ स्थान बतलाए हैं—जाति, कुल, बल रूप, तपस्या, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य—इन आठ स्थितियों में अहंकार का प्रयोग करने वाला व्यक्ति नीच-गोत्र (अप्रतिष्ठा प्रदान करने वाला) कर्म का अर्जन करता है। इन स्थितियों में भी विनम्र रहने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा को शुद्ध करता ही है,साथ ही साथ उच्च गोत्र (प्रतिष्ठा की स्थिति प्रदान करने वाला) कर्म का अर्जन करता है। संस्कृत में श्लोक मिलता है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

इस श्लोक का मैं यह सारांश निकाल रहा हूं कि जो व्यक्ति अंतःकरण से विनम्र होता है, अहंकार-मुक्त व्यवहार वाला होता है, वह व्यक्ति पुण्यार्जन करता है और उसे अनेक प्रकार की अनुकूलता की स्थितियां प्राप्त हो सकती

हैं, जैसे—दीर्घ-आयुष्य, विद्या की प्राप्ति, यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति और शक्ति सम्पन्नता। दशवैकालिक सूत्र में जहां यह बताया गया है—'माणो विणयनासणो'—मान विनय का नाश करने वाला है। वहीं मान-विजय का उपाय भी बतलाया गया है—'माणं मद्दवया जिणे'—मृदुता के द्वारा मान को जीतो। यदि सलक्ष्य मृदुता की अनुप्रेक्षा की जाये, मृदुता की साधना की जाए तो अहंकार के संस्कार का परिष्कार भी हो सकता है।

किसी भी व्यक्ति के बारे में कहना कठिन होता है कि किसके अंतर्मन की क्या स्थिति है? उसे सामान्य ज्ञान वाला आदमी निश्चयपूर्वक नहीं जान सकता, फिर भी व्यवहार के आधार पर कुछ आनुमानिक निर्णय किया जा सकता है। मुनिश्री खेतसीजी स्वामी (सतयुगी), मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी आदि हमारे धर्मसंघ में अनेक संत हुए हैं जिनसे गुरु-भक्ति, आचार्य-भक्ति, विनम्रता की सीख ली जा सकती है। मुझे एक संत और याद आ रहे हैं जिनको मैंने बचपन में आंखों से देखा भी है, वे हैं—मुनिश्री नेमीचंदजी (बीदासर)। उनमें गुरुभक्ति का विशेष गुण था। वे बहिर्विहार में रहने वाले संत थे, परंतु जब-जब उनको गुरुकुलवास में रहने का अवसर मिलता, वे गुरुदेव की सेवा के प्रति विशेष तत्परता के साथ जागरुक रहते थे। न केवल गुरुदेव की सेवा, अपने सहवर्ती मुनि की सेवा के प्रति भी वे जागरुक रहते थे। उनमें नम्रता, ऋजुता और सेवाभावना का संगम था, ऐसी मेरी अवधारणा है। ऐसे समर्पित और विनीत साधुओं के प्रति गुरु के मन में भी गौरव का भाव जाग जाता है। मुनिश्री नेमीचंदजी अग्रणी मुनि थे, वैरागी और फक्कड़ मुनि थे।

शिष्य का गुरु के प्रति इतना तादात्म्य-भाव और समर्पण-भाव हो जाये कि वह अवसर आने पर गुरु के लिए प्राण भी त्याग सके। अनुप्रेक्षा, साहित्य-पठन आदि विभिन्न उपायों के द्वारा व्यक्ति अहंकार के संस्कार को क्षीण करने का प्रयास करे—यह काम्य है।

१७

सोही उज्जुयभूयस्स

अवस्था-वृद्धि के साथ ज्ञान का विकास होता है और ऋजुता का ह्रास होता है।' यह बात एक यथार्थ को प्रकट करती है। सामान्य क्रम यही है कि शैशव-समाप्ति के बाद सरलता का स्थान माया ग्रहण करने लग जाती है। बच्चे में सरलता और नासमझी दोनों होती हैं। बच्चे में ये दोनों फब जाती हैं, किंतु बड़े व्यक्ति में भी नासमझी रहे, यह काम्य नहीं है। एक बच्चा नासमझी के कारण आग में भी हाथ डाल सकता है, सांप को भी पकड़ने का प्रयास कर सकता है, यह नासमझी बच्चे के लिए अहितकर हो सकती है, किन्तु बच्चे का दूसरा स्वभाव निश्छलता का है, वह उपयुक्त मात्रा में बड़ों में भी काम्य है।

माया किसी रूप में आदरणीय भी हो सकती है। माया का अर्थ है—गोपनीयता। अकथनीय तथ्य को प्रकट न करना यानी गंभीरता रखना व्यक्ति का गुण होता है। इस रूप में माया को ग्रहणीय माना जा सकता है, परंतु छल-कपट और वंचना-रूप माया परित्याज्य होती है। सत्य और सरलता यह एक जोड़ा है। सत्य के बिना सरलता और सरलता के बिना सत्य रह नहीं सकता। इसी प्रकार माया और असत्य का भी जोड़ा है। ये दोनों प्रायः साथ-साथ रहते हैं।

सरलता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति सामने वाले के अभिप्राय को समझे ही नहीं। दूसरों की बदनीतियों को समझते हुए भी व्यक्ति छलना का प्रयोग न करे, सरलता का यह रूप अधिक उपयोगी है। आगम-साहित्य में कहा गया है कि माया में अधिक लिप्त रहने वाला व्यक्ति तिर्यंच गति के

आयुष्य का बंधन कर सकता है। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा रचित 'व्यवहार-बोध' में कहा गया है—

सहज तपस्या श्रमण की, आर्जव मार्दव भाव।
युगल सुखी इह परभवे, यह किसका अनुभाव?

यौगलिक मनुष्य सहज सुखी होते हैं, मृत्यु के बाद भी देवलोक में जाते हैं। यद्यपि वे न श्रावक बनते हैं, न साधुत्व स्वीकार करते हैं किंतु फिर भी अपने सहज गुण ऋजुता आदि के कारण देवत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

सत्य के चार प्रकार हैं—

१. काय-ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली काया की प्रवृत्ति।
२. भाषा-ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी का प्रयोग।
३. भाव-ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली मन की प्रवृत्ति।
४. अविसंवादना योग—अविरोधी अथवा प्रतिज्ञात अर्थ को निभाने वाली प्रवृत्ति।

इसके विपरीत असत्य भी चार प्रकार का होता है—

१. काया की कुटिलता—यथार्थ को छिपाने वाली काया की प्रवृत्ति।
२. भाषा की कुटिलता—यथार्थ को छिपाने वाली वाणी की प्रवृत्ति।
३. भाव की कुटिलता—यथार्थ को छिपाने वाली मन की प्रवृत्ति।
४. विसंवादना-योग—विरोधी अथवा प्रतिज्ञात अर्थ को भंग करने वाली प्रवृत्ति।

सत्य के चार प्रकारों का आसेवन और असत्य के चार प्रकारों का वर्जन ऋजुता की साधना के लिए आवश्यक है।

प्रश्न हुआ—निर्वाण को कौन प्राप्त कर सकता है?

उत्तर दिया गया—जिसके जीवन में धर्म होता है।

पुनः प्रश्न—धर्म किसके जीवन में होता है?

उत्तर—जो शुद्ध होता है।

पुनः प्रश्न—शुद्ध कौन होता है?

उत्तर—जो ऋजु होता है।

इसका निष्कर्ष यह है कि निर्वाण का आधार ऋजुता है। इसका आधारभूत श्लोक है–

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तव्व पावए।।

एक गांव का चौधरी एक शहर में पहुंचा। एक स्वर्णकार के घर जाकर वह बोला–स्वर्णकार! एक पीपा गाय का ताजा घी लेकर आया हूं, तुम इसे ले लो और इसके बदले में मुझे कुछ गहना दे दो। स्वर्णकार ने प्रसन्न मन से घी ले लिया और प्रसन्न मन से बोला–चौधरी! लो यह सोने का गहना ले जाओ, चौधरण के पहनने के काम आयेंगे। दोनों ने आदान-प्रदान किया और प्रसन्न मन से स्वर्णकार ने चौधरी को विदा किया। दोनों की प्रसन्नता का कारण यह था–चौधरी सोच रहा था कि मैंने स्वर्णकार को ठग लिया और स्वर्णकार सोच रहा था कि मैंने चौधरी को ठग लिया। चौधरी गहना लेकर सीधा अपने घर पहुंचा और चौधरण से बोला–लो यह गहना, आज मैंने सुनार को ठग लिया। परंतु कुछ ही समय बाद चौधरी की प्रसन्नता गायब हो गई, जब यह पता चला की गहना सोने का नहीं, पीतल का है। स्वर्णकार भी सुनारिन के पास गया और बोला–लो, यह एक पीपा ताजा घी। आज मैंने बेचारे चौधरी को ठग लिया। किन्तु थोड़ी देर बाद स्वर्णकार की प्रसन्नता भी विषाद में बदल गई। जब यह पता चला कि पीपे में ऊपर-ऊपर तो घी है, शेष सारा गोबर भरा पड़ा है। न स्वर्णकार सुखी हुआ, न चौधरी सुखी हुआ।

समाज में जब इस तरह ठगी चलती है तो इसका परिणाम समाज के लोगों को ही भुगतना पड़ता है। ईमानदारी और ऋजुता न केवल अध्यात्म का तत्त्व है अपितु सुखी सामाजिक जीवन के लिए भी आवश्यक है।

ऋजुता के विकास के लिए यह अपेक्षित है कि व्यक्ति का यह लक्ष्य बने कि ऋजु बनना है और रोज सोने से पूर्व व जागने के बाद इस संकल्प को दोहराया जाए कि मुझे वंचना का प्रयोग नहीं करना है, ऋजु बनना है। फिर अपने व्यवहार में यथार्थ को स्थान दे। जो जैसा है अपेक्षानुसार वैसा ही बताने का प्रयास करे।

कहा जाता है कि महाप्रभु ईसा से प्रश्न किया गया कि ईश्वर का साम्राज्य कौन प्राप्त कर सकता है? ईसा ने एक बच्चे को हाथ में लेकर कहा–जिसका

मन इस बच्चे की तरह निश्छल और पवित्र है, वह व्यक्ति ईश्वर के साम्राज्य को प्राप्त कर सकता है।

ऋजुता का अभ्यास करने वाला व्यक्ति अपने लिए प्रस्तुत प्रसंग में बच्चे का अथवा बच्चे की सी ऋजुता को अपना आदर्श बनाए और उसके साथ इतना और जोड़ दे कि समझ पूर्वक ऋजुता हो, न कि नासमझी युक्त ऋजुता।

अठारह पापों में आठवां पाप है—माया। जिसके लिए कहा गया है—'माया मित्ताणि नासेइ'—माया मित्रता का नाश करती है। साधक और अच्छे आदमी के लिए आवश्यक है कि माया का परिवर्जन करे और निष्ठा के साथ ऋजुता का आसेवन करे।

१८

लोहो सव्वविणासणो

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय, मित्रता) का विनाश करता है। लोभ एक ऐसा संस्कार है, जो उक्त चार कषायों में सबसे बाद में क्षीण होता है अथवा यों भी कहा जाता है कि पूर्ववर्ती तीन कषाय लोभ के आधार पर टिके रहते हैं।

एक गृहस्थ के लिए सर्वथा लोभहीन बनना संभव नहीं है, परंतु लोभ की वृत्ति पर नियंत्रण रहे, वह अतिमात्रा में न हो, यह आवश्यक है। लोभ के तीन स्तर होते हैं—निम्न-स्तर का लोभ वह होता है, जिसके कारण व्यक्ति दूसरों को नुकसान में डाल देता है अथवा दूसरों के साथ अन्याय कर, बेईमानी कर अपना घर भरने का प्रयास करता है। मध्यम-स्तर का लोभ वह है कि व्यक्ति अर्जन करने के लिए अथवा अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए किसी दूसरे का अहित नहीं करता, परंतु उसके मन में अर्जन की लालसा रहती है, आसक्ति का भाव रहता है। उच्च स्तर का लोभ वह होता है, जिसकी स्थिति में व्यक्ति किसी का अहित तो करता ही नहीं है और आसक्ति का भाव भी अत्यल्प होता है एवं अर्जित पदार्थ के प्रति विसर्जन की कामना भी रखता है। व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करे कि मेरा लोभ कौन से स्तर का है और कैसे मैं उसका और अधिक परिष्कार कर सकता हूं? दशवैकालिक सूत्र में लोभ-विजय का उपाय बताया गया है—लोभे संतोसओ जिणे—संतोष के अभ्यास के द्वारा लोभ को जीता जा सकता है। अलोभ अथवा अनासक्ति की बार-बार अनुप्रेक्षा की

जाए, लोभ के दुष्परिणामों को समझा जाए तो लोभ की वृत्ति कृश हो सकती है।

व्यक्ति के अनैतिक आचरण में भी एक कारण लोभ बनता है। जिस व्यक्ति के मन में अतिमात्र लोभ होता है और जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है उसे भी कई बार अनैतिक साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। अनैतिक आचरण के प्रमुख दो कारण हो सकते हैं—एक कारण है अभाव या अल्पभाव की स्थिति। भोजन, पानी, वस्त्र, आवास, चिकित्सा—ये जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं होती हैं। हम कल्पना करें—एक परिवार में पांच सदस्य हैं। परिवार का मुखिया अकेला कमाई करने वाला है, उसकी क्षमता भी अति सीमित है। जितना खर्च होता है उसका चौथाई भाग भी अर्जन नहीं कर सकता, ऐसी स्थिति में परिवार का पर्याप्त-मात्रा में भरण-पोषण उसके लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके सामने प्रमुख दो विकल्प हैं—

१. अपनी जीवन लीला को समाप्त कर दे।

२. वह बेईमानी के द्वारा अर्थाजन करे और अपनी अनिवार्य अपेक्षा की पूर्ति करे। इस दोराहे पर आकर कई व्यक्ति प्रथम मार्ग स्वीकार कर लेते हैं जो कोई अभीष्ट मार्ग नहीं है। कई लोग दूसरा मार्ग स्वीकार करते हैं जो अनैतिकता का मार्ग है। यहां व्यक्ति के मन में अति लोभ नहीं है, न वह अनैतिकता का आचरण पसंद करता है परंतु उसे मजबूरीवश वैसा करना पड़ता है। यह अभाव-जनित अनैतिकता है। यदि किसी अन्य तरीके से व्यक्ति की अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति हो जाती है तो वह गलत मार्ग स्वीकार नहीं करता है। अतिभाव की स्थिति और अभाव की स्थिति में अपेक्षित संतुलन हो जाए तो अभाव-जनित अनैतिकता का निवारण हो सकता है। अभाव की स्थिति में होने वाले अनैतिक आचरण को परवशता की स्थिति माना जा सकता है किंतु लोभजनित बेईमानी तो सर्वथा परित्याज्य है।

हिंसा का प्रमुख कारण भी लोभ बनता है। अहिंसक व्यक्ति के लिए लोभ का सीमाकरण आवश्यक होता है। अहिंसा की साधना के तीन क्रमिक स्तर हो सकते हैं। पहला स्तर है—व्यक्ति किसी को कष्ट पहुंचाने अथवा मारने के इरादे से किसी की हिंसा नहीं करने का संकल्प करें। इसके दो प्रकार हैं—

१. अनावश्यक हिंसा का वर्जन।

२. आवश्यक हिंसा का वर्जन।

अहिंसा का दूसरा स्तर है—व्यक्ति यह लक्ष्य और प्रयास रखे कि मैं किसी की हिंसा में निमित्त भी नहीं बनूं यानी वह अपने निमित्त से होने वाली हिंसा को टालने का सलक्ष्य प्रयास करता है। जैसे मार्ग में चलते समय भी वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसके पैर के नीचे आकर कोई जीव मर न जाए। इस तरह हर कार्य वह संयम-सहित करता है, हिंसा का परिवर्जन रखता है।

अहिंसा का तीसरा स्तर है—व्यक्ति परोपकार का प्रयोग करता है। यथासंभव दूसरों के दुःख-निवारण, भलाई और कल्याण करने का प्रयास करता है।

प्रथम दो आयामों में अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है और तीसरे आयाम में अहिंसा का विधेयात्मक पक्ष है।

अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तन किया। यह आंदोलन आदमी के भीतर स्थित अधमतापरक संस्कारों को नियंत्रित करने और उसके श्रेष्ठतापरक संस्कारों को उजागर करने का एक उपाय है। अणुव्रत यह नहीं कहता है कि उसको स्वीकार करने वाला व्यक्ति महान् धनाढ्य बन जायेगा। यदि ऐसा होता तो विशेष प्रयास के बिना ही लोग अणुव्रती बन गये होते किन्तु अणुव्रत आदमी को शांतिपूर्ण तरीके से जीने का रास्ता दिखाता है। एक बात है—किसी दृष्टि से अणुव्रत गरीबी-निवारण का निमित्त भी बन सकता है। भारत की जनता की गरीबी का एक कारण नशा है। लोग परिश्रम से पैसा कमाते हैं और उसका एक हिस्सा वे अपनी नशाखोरी के लिए गवां देते हैं। अति नशा आदमी के स्वास्थ्य को भी खराब करता है। फिर डॉक्टर के पास जाने, उसे दिखाने और दवा खरीदने में भी पैसा लग जाता है। इस तरह व्यक्ति जानबूझकर सचेतन अवस्था में अनचाहे गरीबी को आमंत्रण दे देता है। जिस व्यक्ति ने पूर्णतया अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर ली है, नशा-मुक्त हो गया है वह नशाजन्य गरीबी से बच सकता है।

लोभ की वृत्ति अनेक रूपों में प्रकट होती है, यों भी कहा जा सकता है कि कौनसा पाप है जिसके मूल में लोभ नहीं है। हर पाप की अति-सूक्ष्मता में किसी न किसी रूप में लोभ की भूमिका रहती है। साधुओं के लिए भी अलोभ की साधना के अनेक उपाय बतलाए गए हैं—अप्पोवही-अल्पोपधि (उपकरणों

की अल्पता) भी लोभ को नियंत्रित रखने का एक उपाय है।

प्रस्तुत संदर्भ में पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा विरचित 'व्यवहार-बोध' का एक पद्य मननीय है—

असंग्रही मुनि सतियां, संग्रह वृत्ति बढ़े क्यों?
अनपेक्षित आशंका का सिर भूत चढ़े क्यों?
यदि लघुभूतविहारी भारी बन जायेगा,
फिर मस्ती का जीवन कैसे जी पायेगा?

जब लोभ अंकुशित हो जाता है तो आदमी के लिए सुख का निधान उद्घाटित हो जाता है।

१९

मोह से अमोह की ओर

हम सब सांसारिक प्राणी हैं। संसार एक प्रवाह है। ऐसा प्रवाह, जिसका न आदि है और न अंत है। अनंत काल से सांसारिक प्राणी इसके प्रवाह में प्रवाहित है। हां, कुछ-कुछ प्राणी जब तब इस प्रवाह से मुक्त होते रहते हैं पर इसके उपरांत भी संसार का यह प्रवाह कभी रुकेगा नहीं, सदा बना रहेगा। जन्म-मरण की परंपरा सतत चलती रहेगी।

प्रश्न उठता है, संसार के प्रवाह का हेतु क्या है? इसका समाधान 'दशवेआलियं' आगम में प्राप्त है—

चत्तारि ए ए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाई पुणब्भवस्स।।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ पुनर्भव/संसार की जड़ों को सींचते हैं।

कषाय का ही द्योतक दूसरा शब्द है—मोह। इसलिए शब्दांतर से हम ऐसा कह सकते हैं कि संसार का संचालक मोह है। मोह के बिना संसार की कल्पना नहीं की जा सकती।

एक बहन से संतों ने कहा—'बहन! बच्चों के प्रति ज्यादा मोह नहीं रखना चाहिए।' बहन ने संतों की बात सुनी और एक नैश्चयिक यथार्थ प्रकट करते हुए कहा—-'महाराज! मोह के बिना बच्चे पलते ही नहीं हैं।'

कोई भी सांसारिक प्राणी न तो मात्र आत्मा है और न मात्र शरीर। वह तो आत्मा और शरीर इन दोनों तत्त्वों का अनिवार्य योग है। इस अपेक्षा से

ऐसा कहा जा सकता है कि सांसारिक प्राणी नित्य और अनित्य का संयोग है।

आत्मा एक असंख्य प्रदेशात्मक पिंड है। परिमाण की दृष्टि से वह लोकाकाश के तुल्य है यानी आत्मा का यदि फैलाव हो तो वह संपूर्ण लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर व्याप्त हो जाती है। यहां समझने की बात यह है कि उसके असंख्य प्रदेशों में से एक भी प्रदेश कभी नष्ट नहीं होता है, न उनमें एक प्रदेश की कभी वृद्धि होती है। इस दृष्टि से आत्मा शाश्वत है। कहा गया है—

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।

ज्ञान दर्शन से युक्त एक मेरी आत्मा शाश्वत है। शेष बाह्य संबंध संयोगजनित हैं।

संयोग की अंतिम परिणति वियोग में होती है—यह एक यथार्थ है। इस यथार्थ से परिचित होने का फलित यह होना चाहिए कि व्यक्ति संयोग और वियोग—दोनों ही स्थितियों में अपने मन को संतुलित रखे। मेरी दृष्टि में सुखी जीवन जीने का यह सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

श्रीमद् भगवद्गीता में आत्मा की शाश्वतता को निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।

आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी बहा नहीं सकता और हवा उसे सुखा नहीं सकती।

आत्मा का शाश्वत अस्तित्व असंदिग्ध है। वह इस जीवन से पहले भी थी, आज भी है तथा इस जीवन के बाद भी किसी न किसी रूप में रहेगी। शरीर तो यहीं समाप्त हो जाने वाला है। अब चिंतनीय बिंदु यह है कि व्यक्ति शाश्वत आत्मा के लिए कितना ध्यान देता है तथा नश्वर शरीर में कितना ध्यान लगाता है? खाना, पीना, सोना, धोना, कमाना आदि क्रियाएं सामान्यतः शरीर के लिए होती हैं। व्यक्ति का पूरे दिन का काफी समय इन प्रवृत्तियों में लग जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन सब प्रवृत्तियों में

व्यक्ति की जितनी-जितनी अनासक्ति है, आध्यात्मिकता है, वह आत्मा के लिए हितकर है।

आत्मा के लिए जप, स्वाध्याय आदि लाभदायी है। व्यक्ति ने एक घंटा उपासना की, किसी आध्यात्मिक मंत्र का जाप किया। भले ही प्रत्यक्षतः जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आए, तथापि उपासना, जप आदि व्यर्थ नहीं हैं। जप आदि के समय आत्म-परिणाम शुद्ध रहे, मन, वचन, काया की सावद्य प्रवृत्ति नहीं हुई, यह अपने-आपमें बहुत बड़ा लाभ है। यदि जीवन में परिवर्तन घटित हो जाए, तब तो कहना ही क्या। यह तो विशेष लाभ है। इसलिए आत्महितेच्छु प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्याय, जप, सामायिक आदि के लिए अपने समय का सही नियोजन अवश्य करना चाहिए।

२०

संकल्प की धुरी पर

मैं कौन हूं? यह प्रश्न मनुष्य के मस्तिष्क में प्रस्फुटित हो रहा है—वह अपने बारे में जिज्ञासु है कि वर्तमान में उसका जो अस्तित्व है, उसका आधार क्या है? अतीत में वह कुछ था या नहीं? कुछ था तो किस रूप में रहा होगा? भविष्य में उसकी क्या स्थिति होगी? वह किस रूप में रहेगा? रहेगा या नहीं? इस प्रकार के अनगिन प्रश्न मानव-मन में उछलकूद मचाते रहते हैं। आत्मद्रष्टाओं ने इन प्रश्नों को समाहित किया और आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया भी प्रस्तुत की।

आत्म-साक्षात्कार की तीव्र भावना से उत्प्रेरित ऐसा ही एक शिष्य गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ। बद्धांजलि होकर विनम्र और संयत शब्दों में निवेदन किया। भंते! मैं आत्म-साक्षात्कार करना चाहता हूं। आप कृपया मेरा मार्ग-दर्शन करें।

गुरु ने कहा—वत्स! आत्म-साक्षात्कार की प्रेरणा तुम्हारे भीतर जगी है, यह स्तुत्य है, पर वह करना बड़ा कठिन है। शिष्य बोला—प्रभो! आपकी कृपा होगी तो कोई कठिन नहीं है। गुरु की कृपा से तो कठिन काम भी आसान हो जाते है। शिष्य की गहरी प्यास को देखकर गुरु ने कहा—वत्स! इतनी उदग्र पिपासा है तो सुनो। आत्म-साक्षात्कार के लिए एक नहीं, दो नहीं, दस-दस महान् शत्रुओं के साथ तुम्हें युद्ध करना होगा। उन पर विजय पाए बिना आत्म-साक्षात्कार की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकते। क्या है तुम्हारे में इतना साहस? इतनी हिम्मत? इतना धैर्य?

शिष्य एक बार तो शत्रु का नाम सुनते ही घबरा उठा, पर अगले ही क्षण साहस को बटोरा, आत्मबल को जगाया और प्रार्थना की—प्रभो! आपकी कृपा से मैं अवश्यमेव उन शत्रुओं को परास्त कर सकूंगा। बस, आप मुझे शीघ्रता से बताएं कि वे शत्रु कौन से हैं? एक क्षण का भी विलंब मेरे लिए अब असह्य हो रहा है।

शिष्य की इस बैचेनी ने गुरु को प्रसन्नमुख बना दिया। उन्होंने भगवान इंद्रभूति गौतम द्वारा उद्गीत अर्धमागधी भाषा में एक गाथा सुनाई। वह गाथा इस प्रकार है—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा हु जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं।।

शिष्य बोला—भंते! मैं अल्पमति हूं। आप द्वारा उद्गीत इस गाथा का अर्थ मैं नहीं समझा। ये एक, पांच, दस शब्द किस ओर संकेत कर रहे हैं? गाथा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए गुरु बोले—एक को जीतने का अर्थ है मन को जीतना। एक अपेक्षा से मन प्राणी का सबसे बड़ा शत्रु है। कठिनाई यह है कि व्यक्ति उसको अपने अधीन न बनाकर उसकी अधीनता स्वयं स्वीकार कर लेता है। परिणाम यह होता है कि यह मन एक नट की भांति प्राणी को नर्तन कराता रहता है। मनुष्य चाहता कुछ है, पर करता कुछ है। यह मन की ही दासता का परिणाम है। तुम स्वयं मन के इन विचित्र-चित्रों का कई बार दर्शन करते रहते हो। तुम चाहते हो स्वाध्याय करूं, पर मन तुम्हें आराम करने के लिए प्रेरित करता है और तुम जब-तब प्रमाद में चले जाते हो। तुम चाहते हो तपस्या करना पर मन विविध पदार्थों को खाने की चाह करता है। तुम मन की चाह की पूर्ति में लग जाते हो। तुम चाहते हो परीषहों पर विजय पाना, पर मन सुविधाओं की ओर दौड़ता है। फलतः तुम सुविधावादी बन जाते हो। तुम चाहते हो ध्यानमुद्रा में स्थित हो, मन को किसी एक आलंबन पर टिकाना। पर मन बंदर की भांति कूद-फांद करना चाहता है। तुम ध्यान को छोड़ मन की चाह को पूरी करने में लग जाते हो। मन बिना लगाम का घोड़ा है, बिना अंकुश का हाथी है। इसकी गति बड़ी विषम है। बड़े-बड़े योगी और तपस्वी भी उसके आगे हार मान लेते हैं। मन पर यदि विजय प्राप्त हो गई तो समझो कि साधना के क्षेत्र में काफी सफलता मिल गई।

शिष्य ने तहत् कहकर गुरु की वाणी को स्वीकार किया और साथ ही

अगला प्रश्न किया, भंते! आप द्वारा उद्गीत गाथा में पांच को जीतने का क्या अभिप्राय है?

गुरु ने कहा—मन की तरह चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ भी आत्मा के दुर्दान्त शत्रु हैं। इनको जीतना भी आसान कार्य नहीं है। कषाय आत्म-गुणों को आच्छादित करने वाला है। उनकी उपस्थिति में आत्मा की ज्ञान दर्शनमयी चेतना पूर्णतः प्रकट नहीं होती।

आत्मा को एक तालाब से उपमित करें तो ज्ञान दर्शन का निर्मल जल उस तालाब में भरा है। सांसारिक अवस्था में कषाय रूपी शैवाल से वह पूर्णतः आच्छादित है। व्यक्ति अपने प्रबल पुरुषार्थ से, सैद्धांतिक भाषा में कहें तो क्षयोपशम भाव से उस शैवाल को हटाने का प्रयत्न करता है। पर उदयभाव उस पर पुनः पुनः हावी होता रहता है। फलतः कषाय चतुष्क रूप शैवाल और अधिक सघन होता जाता है।

वत्स! इन चार कषायों को जीतना कठिन अवश्य है पर यदि मन को तुमने अच्छी तरह जीत लिया तो चार कषायों को जीतना दुष्कर नहीं होगा। इस प्रकार एक मन और चार कषाय को जीतकर पांच शत्रुओं के विजेता बन जाओगे।

शिष्य गुरु के वचनामृत का चातक की तरह पान कर रहा था। उसने फिर एक जिज्ञासा की—गुरुदेव! पांच शत्रु तो आपने बता दिए। शेष पांच शत्रु कौन से हैं? कृपया उनसे भी मेरा परिचय कराएं।

शिष्य का मार्गदर्शन करते हुए गुरु बोले—वे पांच महाशत्रु हैं—पांच इंद्रियां। इंद्रियां आत्मगुणों की घातक हैं। आत्म-दर्शन के लिए इन पांचों को जीतना अत्यंत आवश्यक है। शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—गुरुदेव! इनको जीतने से आपका क्या अभिप्राय है? कर्ण कुहर में बुरे शब्द न पड़े इसलिए क्या कानों में शीशा डाल दूं? ताकि श्रवण शक्ति नष्ट हो जाए और मैं बुरी बातें न सुन सकूं। आंखें बुरे दृश्य न देखे, रूप में आसक्त न हो इसलिए क्या आंखों को शलाका से फोड़ लूं ताकि अश्लील दृश्य न देख पाऊं। इसी तरह घ्राण, जिह्वा व स्पर्शन इंद्रिय की शक्ति को नष्ट कर दूं ताकि सूंघने, चखने व स्पर्श करने के संवेदन समाप्त हो जाएं।

गुरु शिष्य के अज्ञान पर मुस्कुराए तथा गंभीर व उदात्त स्वर में

बोले—वत्स! इंद्रियों को जीतने का अर्थ यह नहीं कि तुम उनको निष्क्रिय बना दो। उनकी देखने, सुनने आदि की क्षमता ही नष्ट कर दो। इंद्रियां क्षयोपशम भाव है। वे ज्ञान प्राप्ति में हमारी सहायक है। यहां इंद्रियों को नियंत्रण में रखना, उन्हें स्वच्छंदाचारी नहीं बनने देना अभीष्ट है। इंद्रियों पर नियंत्रण होने से वे असत्‌गामी नहीं बनेंगी, सत्‌ में प्रवृत्त हो सकेंगी।

इंद्रियां हमारे लिए साधक भी है और बाधक भी। नियंत्रित इंद्रियां साधक हैं, अनियंत्रित इंद्रियां बाधक हैं।

शिष्य का जिज्ञासु मन पुनः मुखर हुआ। उसने प्रश्न किया—गुरुदेव! इंद्रियों को नियंत्रित करने का क्या उपाय हो सकता है? कृपया आप ही फरमाएं।

बात को आगे बढ़ाते हुए गुरु ने कहा—इंद्रियों को नियंत्रित करने के लिए राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करना होता है। राग-द्वेष की चेतना ही इंद्रियों को उन्मार्ग में ले जाती है। राग-द्वेष की दुर्गंध जब तक मन में भरी रहती है तब तक इंद्रियों को अपने अधीन नहीं बनाया जा सकता। अपनी इस बात को और अधिक स्पष्टता से समझाने के लिए मैं तुम्हें एक उदाहरण सुना रहा हूं—

किसी गांव में एक कुआं खुदवाया गया। काम सम्पन्न हुआ तब उसके लोकार्पण की चर्चा चली। लोगों ने कहा—किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा इसका लोकार्पण किया जाना चाहिए। विशिष्ट व्यक्ति किसे मानें? इस संदर्भ में कई सुझाव आए। किसी ने राजनेता का नाम बताया। किसी ने समाजसुधारक की वकालत की। किसी ने गांव के धनपति का नाम प्रस्तावित किया। एक अनुभवी व्यक्ति ने अपना प्रस्ताव रखते हुए कहा—राजनेता, समाजसुधारक और धनपति की अपेक्षा किसी त्यागी, संयमी महात्मा के द्वारा इसका लोकार्पण करवाया जाना चाहिए। प्रस्ताव सबको पसंद आया। खोज शुरू हुई। वृक्ष के नीचे ध्यानासन में बैठे एक मस्तमौला पर दृष्टि टिकी। उन्हें भाव भरा सामूहिक अनुरोध किया गया। सामूहिक अर्ज पर सहमति की मुहर लगी। निर्धारित समय पर महात्मा जी कुएं के पास पहुंचे। गांव के सब लोग पहले ही इकट्ठे हो गए थे, पर यह क्या? वहां कुएं से असह्य दुर्गंध आ रही थी। आयोजकों ने दुर्गंध मिटाने के लिए अगरबत्तियां जलाई। धूप किया। सुगंधित पदार्थों का छिड़काव किया, फिर भी दुर्गंध कम नहीं हुई। महात्मा जी ने कुएं में झांका। उसमें दो कुत्तों की लाशें तैर रही थीं। संभवतः झगड़ते-झगड़ते वे कुएं

में गिर पड़े हों।

महात्मा जी ने कुत्तों को बाहर निकालने का आदेश दिया। ज्योंही कुत्तों को बाहर निकाला, दुर्गंध समाप्त हो गई।

वत्स! तुम आत्मा को पाना चाहते हो तो पहले वैराग्य की डोर से राग-द्वेष के दोनों कुत्तों को बाहर निकालो। इन्हें बाहर निकाल कर ही तुम इंद्रिय रूपी पांच शत्रुओं को जीत सकोगे।

इस प्रकार मैंने दस शत्रुओं की चर्चा तुम्हारे सामने की है। ये दस शत्रु भगवान गौतम द्वारा निर्दिष्ट महाशत्रु हैं। इन्हें जीत लिया तो आत्म-साक्षात्कार की दिशा स्वतः प्रशस्त हो जाएगी।

शिष्य का रोम-रोम गुरु के प्रति कृतज्ञता से भर उठा। उसने गुरु के चरणों में वन्दन किया और आत्म-साक्षात्कार की दिशा में कदम बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प हो गया।

२१

मंजिल दूर या निकट

पांच शब्द हैं—साध्य, साधन, साधना, साधक और सिद्धि। इन पांच शब्दों में मानों सब कुछ भरा हुआ है। साधना के पथ पर चलने वाला व्यक्ति साधक कहलाता है। साधक साध्य—प्राप्ति के लिए साधन की साधना करता है। प्रश्न हो सकता है मुख्य साध्य है या साधन? साधन का अपने आप में कोई खास महत्त्व नहीं होता। साधन वही अच्छा होता है जो हमें साध्य की ओर ले जाए, सही गंतव्य को प्राप्त करा सके। इसलिए मौलिक अथवा महत्त्वपूर्ण बात है कि साध्य का निश्चय ठीक होना चाहिए। साध्य का सम्यक् निश्चय हो गया फिर रास्ता चाहे उबड़-खाबड़ हो अथवा सीधा हो, साध्य उपलब्ध हो जाएगा।

व्यक्ति संकल्प पूर्वक अपना लक्ष्य निर्धारण करे। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात गति की जाती है, तो निष्पत्ति अवश्य मिलती है। लक्ष्य-विहीन दौड़ की जाती है, तो निर्णायक निष्पत्ति आशंकित रहती है। हां, लक्ष्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। एक सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य अलग होता है तो राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य भिन्न प्रकार का होता है। आदमी लक्ष्य-निर्धारण के बाद योजनाबद्ध तरीके से कार्य प्रारंभ करे और साथ में अनुकूल परिस्थिति हो तो जल्दी ही लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति लक्ष्य का निर्धारण तो ठीक कर लेता है परंतु गति समीचीन रूप से नहीं कर पाता। उसके मन में भय बना रहता है कि जीवन में विघ्न-बाधाएं संभावित हैं फिर मैं आगे कैसे बढ़ूंगा? विकास कैसे कर पाऊंगा? लक्ष्य तक कैसे पहुंच पाऊंगा? भयभीत व्यक्ति के

विकास में आशंका बनी रहती है। नीतिकार ने सुन्दर कहा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।।

निम्न श्रेणी के व्यक्ति विघ्न के भय से कार्य का प्रारंभ ही नहीं करते, वे पहले ही घबरा जाते हैं। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति उत्साह के साथ लक्ष्य की दिशा में प्रस्थान कर देते हैं किन्तु जब विरोध-अवरोध, विघ्न-बाधाएं स्वागत करती हैं तो उनके स्वागत को स्वीकार नहीं कर पाते और घुटने टेक देते हैं, उनकी गति अवरुद्ध हो जाती है। उत्तम श्रेणी के मनुष्य वे होते हैं जो उत्साह और विश्वास के साथ कार्यारंभ करते हैं और विरोध-अवरोध, विघ्न-बाधाओं का प्रसन्नता के साथ स्वागत करते हैं, उनका मुकाबला करते हैं अथवा उनके साथ मैत्री का प्रयोग करते हैं और अपने लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं।

अध्यात्म के क्षेत्र में भी लक्ष्य-निर्धारण आवश्यक होता है। हालांकि आध्यात्मिक रुचि रखने वाले व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य तो मोक्ष ही होता है किन्तु इस महान लक्ष्य तक पहुंचने के लिए छोटे-छोटे लक्ष्य भी बनाए जा सकते हैं। आदमी अपनी प्रतिलेखना करे। अपनी कमियों को देखे, अच्छाइयों को भी देखे। फिर निर्णय करे कि मुझे किन-किन कमियों को दूर करना है और कौन-सी विशेषताओं का और अधिक विकास करना है। किसी व्यक्ति में भय की वृत्ति हो सकती है, किसी में आक्रोश की वृत्ति हो सकती है। आदमी लक्ष्य बनाए कि मुझे भय, आक्रोश, अहंकार आदि से मुक्त होने की साधना करनी है। साधक साधना करता है उसमें यदि निष्ठा का भाव नहीं जुड़ता है, दत्तचित्तता नहीं आती है तो लक्ष्य प्राप्ति में विलंब हो सकता है।

ध्यान एक साधन बनता है लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए। जिस व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार करना है, कषाय-मुक्त बनना है, चित्त शुद्धि की ओर अग्रसर होना है, उसे ध्यान का अभ्यास करना होगा। ध्यान के अलावा अन्य कई उपक्रम भी कषाय मुक्ति और चित्त शुद्धि के लिए साधन बन सकते हैं, जैसे—स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, जप-प्रयोग आदि-आदि। परम श्रद्धेय आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान का अनुसंधान किया और मानव जाति के सामने एक साधना पद्धति प्रस्तुत की। प्रेक्षाध्यान का अथवा साधना का उद्देश्य है कि

व्यक्ति को समाधि प्राप्त हो। समाधि की स्थिति तक पहुंचने में कई बाधाएं आ सकती है। तीन प्रमुख बाधाएं हैं—व्याधि, आधि और उपाधि। इन तीनों में मूल है उपाधि अर्थात् भावनात्मक अस्वास्थ्य, रागद्वेषात्मक स्थितियां।

प्रेक्षाध्यान सबसे पहले उपाधि का शोधन करता है, उसका निवारण करता है। जब उपाधि दूर हो जाती है तो उससे निष्पन्न होने वाली आधि अर्थात् मानसिक व्यथा का भी निवारण हो जाता है। क्योंकि आधि का मूल आधार है—उपाधि। जब आधार समाप्त हो जाता है तो आधेय को रहने का अवसर ही नहीं मिलता। वह स्वतः समाप्त हो जाता है। तीसरी बाधा है—व्याधि अर्थात शारीरिक बीमारी। अनेक बीमारियां तो आधि और उपाधि पर आधारित होती हैं। जब आधि और उपाधि का समीचीन आधार नहीं मिलता है तो व्याधि अपने आप समाप्त हो जाती है। किन्तु कई बीमारियां एकमात्र अपने कर्मों के कारण भी शरीर में उत्पन्न हो सकती है। सात वेदनीय अथवा असात वेदनीय का जैसा योग होता है, बीमारी की स्थिति या स्वास्थ्य की स्थिति बन सकती है। बीमारी की अवस्था में आदमी यह चिंतन करे कि मुझे अनायास ही कर्म-निर्जरा का मौका मिल रहा है। उसे शांत भाव से झेलने पर महान निर्जरा हो सकती है।

यदि आदमी के जीवन में साधना का बल है तो व्याधि के रहने पर भी वह अपनी समाधि को नहीं खोता। उसका वैराग्य भाव, शांत भाव इतना पुष्ट हो जाता है कि व्याधि से समाधि दुष्प्रभावित नहीं होती, वह बनी रहती है।

साध्य तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि व्यक्ति के मन में साध्य के प्रति आस्था का भाव बना रहे। साधन के प्रति भी आदर का भाव रहे। साधन प्राप्त है उसके प्रति आदर का भाव भी है किन्तु साधना के प्रति निष्ठा नहीं है तो साध्य कैसे प्राप्त होगा? समर्पण व आदर के साथ क्रियाशीलता हो तो साध्य प्राप्त हो सकता है। साधक चिंतनपूर्वक लक्ष्य निर्धारित करे और पुरुषार्थ पूर्वक साधना करे तो साध्य तक पहुंचा जा सकता है।

२२

साधना की निष्पत्ति : वीतरागता

हर प्राणी संसार में जीता है। इस संसार की न आदि है और न ही अंत। इसकी परंपरा आगे से आगे परंपरित हो रही है। प्रश्न हो सकता है कि संसार की परंपरा को, जन्म-मरण की परंपरा को चलाने वाला कौन है? आदमी केवल ऊपर को देखता है। मूल को देखे बिना समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। मूल को पकड़ना चाहिए। आचारांग सूत्र में कहा गया—'अग्गं च मूलं च विगिञ्च धीरे।' आदमी अग्र को भी देखे और मूल भी देखे। मूल को देखने पर पता चलता है कि इस संसार को चलाने वाला तत्त्व है—मोह। अगर मोह न रहे तो संसार का चलना भी असंभव हो जाए। जब तक मोह है तब तक संसार है। मोक्ष एक सचाई है तो संसार भी एक सचाई है। अनंत जीव मोक्ष चले गए, अनंत चले जाएंगे, उसके बाद भी अनंत-अनंत जीव संसार में बने रहेंगे। साधना के लिए उन्मुख व्यक्ति को इस बात पर विचार करना चाहिए कि मुझे मोहविजय की साधना करनी है। यदि मोहविजय नहीं हुआ तो साधना की निष्पत्ति नहीं आ सकती। मोह एक ऐसा सेनापति है, जिसके निर्देशन में संसार के सारे सांसारिक काम हो रहें हैं।

आदमी के भीतर मोह रहता है तो साथ में अमोह भी रहता है। जैन सिद्धांत के अनुसार कोई जीव ऐसा नहीं है, जिसके कुछ अंशों में मोह का विलय न हो, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो। विपरीत बातें भी साथ-साथ रह सकती हैं। आत्मा में ज्ञान है तो अज्ञान भी है। शक्ति है तो शक्तिहीनता भी है। अनेक चीजें एक साथ रह सकती हैं।

एक बालिका हार पिरो रही थी। उसके सामने कांच के टुकड़े, स्वर्ण-खंड और मणियां पड़ी थीं। वह तीनों को एक साथ पिरो रही थी। उसके सामने से एक विद्वान व्यक्ति निकला। वह बालिका के इस कृत्य को देखकर कहने लगा—'काचं मणिं कांचनमेकसूत्रे, ग्रथ्नासि बाले! तव को विवेकः।' बालिके! यह तुम्हारा कैसा विवेक है? जो इन तीनों को एक साथ पिरो रही हो। बालिका भी बड़ी तेज थी, संस्कृत व्याकरण को जानने वाली थी, उसने कहा—'पंडित महोदय! मैंने कौन-सा गलत काम कर दिया? कौन-सा अपराध कर दिया? संस्कृत के महान व्याकरणाचार्य पाणिनि ने भी एक सूत्र में तीन चीजों को पिरोया है। 'महामतिः पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह।।' तीन चीजें कौन-सी? कुत्ता, युवा और इंद्र। संस्कृत व्याकरण 'कालू कौमुदी' का एक सूत्र है—'श्वन्युवन्मघोनामपिस्यात्थुटि व उः' कहां मेल बैठता है इन तीनों में? कहां तो कुत्ता, कहां युवक और कहां इंद्र? जब पाणिनि जैसे महान पंडित ने भी इन तीनों को एक सूत्र में पिरोया है तो मैंने कांच, मणि और स्वर्ण को एक सूत्र में पिरोकर कौन-सा गलत काम कर दिया?

इस दुनिया का यह नियम है कि इसमें विपरीत धर्मों वाली अनेक चीजें एक साथ रह सकती हैं। आदमी के भीतर मोहात्मक चेतना भी है और अमोहात्मक चेतना भी है। आदमी निरंतर जागरूक रहे कि मुझे अमोह की साधना में आगे बढ़ना है। साधना करने में माध्यम बनता है—हमारा शरीर। इस शरीर के द्वारा धर्म की आराधना भी की जा सकती है। ध्यान की साधना भी की जा सकती है, स्वाध्याय भी किया जा सकता है, तपस्या भी की जा सकती है तो इस शरीर से अधर्म भी किया जा सकता है, हिंसा भी की जा सकती है, झूठ भी बोला जा सकता है, चोरी भी की जा सकती है और भी अनेक पापाचरण किए जा सकते हैं। शरीर तो एक माध्यम है। इसका उपयोग कहां, किस रूप में किया जाए, यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है। आदमी का शरीर अक्षम भी बन सकता है और सक्षम भी हो सकता है। व्यक्ति इस बात पर ध्यान दें कि जब तक मेरा शरीर सक्षम है, तब तक मैं अधिक-से-अधिक साधना कर लूं। शरीर की अक्षमता के बाद साधना करने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। दसवेआलियं में कहा गया—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।

जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इंद्रियां क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। हालांकि धर्म तो हर स्थिति में करणीय है किंतु साधना के विशेष प्रयोग करने हो, कठोर साधना करनी हो तो शरीर की सक्षमता भी आवश्यक होती है। विशेष साधना के लिए शरीर का भी विशेष होना जरूरी माना गया है। केवलज्ञान की प्राप्ति हर किसी व्यक्ति को नहीं हो सकती। अन्य अनेक बातों के साथ शरीर का संहनन भी मजबूत होना चाहिए, पूर्णतः सक्षम होना चाहिए, तभी कैवल्य की उपलब्धि हो सकती है। जब वृद्धावस्था आ जाती है, शरीर अक्षम बन जाता है, आंख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि जवाब दे देते हैं फिर विशेष साधना तो दूर सामान्य साधना भी सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकती।

संसार में मोह चलता है—मोह का अधिक संबंध स्वार्थ के साथ होता है। यदि स्वार्थ नहीं है तो कई बार मोह भी नहीं होता है। स्वार्थ संबंधी व्यक्ति का वियोग होने पर मन दुखी बन जाता हैं जबकि जिसके साथ स्वार्थ का संबंध नहीं होता, उसका वियोग होने पर भी दुःख नहीं होता। आदमी का स्वार्थ भी एक तरह का मोह ही होता है। मोह के अभाव में परिवार, समाज और देश का सामाजिक विकास अवरुद्ध हो सकता है। आपसी रिश्ते बिखर सकते हैं। व्यवहार के धरातल पर जहां मोह भी कहीं-कहीं अनिवार्य हो जाता है, वहीं अध्यात्म के धरातल पर मोहातीत चेतना का, संबंधातीत चेतना का विकास आवश्यक माना गया है।

सामान्य आदमी संसार के प्रवाह के साथ बहता है, अनुस्रोतगामी होता है। परंतु जिसको कुछ होना है, कुछ बनना है, आध्यात्मिक साधना का प्रयोग करना है, उसे प्रतिस्रोतगामी बनना होगा, प्रवाह का सामना करना होगा। तभी वह अमोह की, अध्यात्म की साधना कर सकेगा। सरदारशहर निवासी सुमेरमलजी दूगड़, जिनके योग्य, कर्मठ और युवा पुत्र का अचानक देहावसान हो गया, उस समय मानो पूरा सरदारशहर रो रहा था किंतु सेठ साहब की स्थिति काफी अमोह की स्थिति बनी रही। वे रोने वाले लोगों को संबल दे रहे थे। मोह न करने की प्रेरणा दे रहे थे। संयोग और वियोग की सचाई को समझाने का प्रयास कर रहे थे। ऐसे ही व्यक्ति समाज के लिए आदर्श बन सकते हैं, प्रेरणास्रोत बन सकते हैं। गार्हस्थ्य में रहते हुए भी व्यक्ति साधना करे, अभ्यास करे तो अमोह की दिशा में आगे बढ़ सकता है, विकास कर सकता है।

कभी-कभी महापुरुष कहलाने वाले व्यक्ति भी मोह के चक्रव्यूह में इस तरह फंस जाते हैं कि बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। रामचरित्र में बताया गया कि जब लक्ष्मण का देहावसान हो गया तब मर्यादा पुरुषोतम श्रीराम की क्या स्थिति बनी। अपने अनुज के मोह में इतने विह्वल हो गए कि वे महीनों तक भाई के शव को अपने कंधों पर लिए घूमते रहे। वे यही मानते थे कि लक्ष्मण अभी भी जीवित है। इस भ्रांति से वे कभी लक्ष्मण को सहलाते तो कभी खिलाते। कभी वैद्य को बुलाते। वैद्य तो इस सचाई को जानते थे कि लक्ष्मण मर चुका है, अब किसे ठीक करें? किंतु श्रीराम इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। कहा जाता है, जब देवों ने देखा कि राम जैसे महापुरुष भी मूढ़ बन गए हैं, मोहाक्रांत हो गए हैं, तब वे आदमी का रूप बनाकर श्रीराम के सामने आए और पत्थर पर कमल उगाने का प्रयास करने लगे। राम ने जब यह दृश्य देखा तो कहने लगे—आप कैसा बेहूदा प्रयास कर रहे हैं? पत्थर पर कमल कैसे उगेगा? देवों ने कहा—यदि पत्थर पर कमल नहीं उग सकता तो मरा हुआ व्यक्ति पुनः जीवित कैसे हो सकता है? लक्ष्मण मर चुका है। इस प्रकार देवों ने श्रीराम के मोहावरण को दूर करने का प्रयास किया।

मोह को विफल करने का सशक्त उपाय है—अमोह की साधना। जैसे-जैसे अमोह की चेतना जागती है, मोह दूर होता चला जाता है। साधना के द्वारा, अभ्यास के द्वारा, ध्यान के द्वारा, चिंतन के द्वारा मोह पर विजय प्राप्त किया जा सकता है और अपनी आत्मा को वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है।

२३

आत्मानुभूति में बाधक : अहंकार और ममकार

शिष्य गुरु के उपपात में पहुंचा और निवेदन किया, गुरुदेव! मेरे मन में जिज्ञासा हो रही है कि मृत्यु किसकी होती है—शरीर की अथवा आत्मा की? क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर भी रहता है और आत्मा भी कहीं न कहीं पर तो रहती ही है। फिर मृत्यु किसकी होती है? गुरु ने समाधान देते हुए कहा—वत्स! मृत्यु न तो शरीर की होती है और न ही आत्मा की। मृत्यु होती है आत्मा और शरीर के संबंध की। आत्मा अलग है, शरीर अलग है। आत्मा शरीर में स्थित है पर शरीर आत्मा नहीं है। शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है। शरीर पौद्‌गलिक है, आत्मा चैतसिक है। शरीर का छेदन, भेदन किया जा सकता है परंतु आत्मा अछेद्य और अभेद्य है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा है—आत्मा का अमूर्त्त होना। सामान्यतः आदमी इंद्रिय—चेतना के स्तर पर जीवन जीता है और आत्मा, जो कि अमूर्त्त है, इंद्रिय—ज्ञान का विषय नहीं बन पाती। राजा प्रदेशी भी आत्मा के अस्तित्व के विषय में संदिग्ध बना हुआ था। उसका मानना था कि आत्मा और शरीर अलग-अलग नहीं, दोनों एक ही हैं। कुमारश्रमण केशी ने अनेक युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इस लंबी चर्चा के दौरान राजा प्रदेशी ने कहा—भंते! आप निपुण हैं, महामति संपन्न हैं, उपदेश देने में कुशल हैं। क्या आप मुझे आत्मा को शरीर से निकालकर मेरी हथेली में रखे आंवले की भांति दिखाने में समर्थ हैं? उस समय हवा चल रही थी।

कुमारश्रमण केशी—क्या तुम इन हिलते हुए पौधों को देख रहे हो?

प्रदेशी—हां।

कुमारश्रमण केशी—इन्हें कौन हिला रहा है?

प्रदेशी—हवा!

कुमारश्रमण केशी—क्या तुम हवा को देख रहे हो?

प्रदेशी—नहीं।

कुमारश्रमण केशी—जब तुम रूप, कर्म, लेश्या, शरीर धारण करने वाली हवा को भी नहीं देख सकते हो तो प्रदेशी! मैं तुम्हारी हथेली में रखे आंवले की भांति, शरीर में स्थित अरूपी आत्मा को शरीर से अलग करके कैसे दिखा सकता हूं?

आत्मा का दर्शन किया जा सकता है, प्रदर्शन नहीं। आत्मा को देखा जा सकता है, दिखाया नहीं जा सकता। आत्मा का अनुभव किया जा सकता है, उसे बताया नहीं जा सकता। आत्मानुभूति में बाधक तत्त्व हैं—अहंकार और ममकार। 'मैं और मेरा' यह भाव जब तक प्रबल रहता है, आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। गुरुदेव तुलसी द्वारा रचित 'अध्यात्म पदावली' में इस तथ्य को देखा जा सकता है—

मैं हूं, मैं है भेद पर, जब जाता है ध्यान।
संभव बनती है तभी, आत्मा की पहचान।।

'मैं हूं और मैं है'—इन दो वाक्यों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। 'मैं हूं'—इस वाक्य में 'हूं' उपाधि का प्रतीक है और 'मैं है' इस वाक्य में 'है' अस्तित्व का सूचक है। हूं के पीछे अहंकार की उपाधियां जुड़ी हुई है, जैसे—मैं व्यापारी हूं, मैं कर्मचारी हूं, मैं मैनेजर हूं, मैं विद्वान हूं आदि-आदि। इसका मतलब यह हुआ कि मैं अन्य लोगों से अलग हो गया। हमने दो श्रेणियां बना दी। एक स्वामी की श्रेणी और दूसरी सेवक की श्रेणी। एक विद्वान की श्रेणी और दूसरी अविद्वान की श्रेणी। आत्मा पर जब मूर्च्छा का आवरण होता है तब 'अहमात्मा' इस वाक्य का सृजन होता है और जैसे ही यह आवरण हटने लगता है तब 'अयमात्मा' इस वाक्य से आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है। अहंकार और ममकार का नाश किए बिना आदमी आत्मसाक्षात्कार की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। जब तक आत्मा को जानने की खोज शुरू नहीं होगी तब तक विकास के नये क्षितिज उद्घाटित नहीं हो सकते। आत्मा की खोज में

यात्रा करने वाला व्यक्ति ही शांति और समाधि का जीवन जी सकता है।

आदमी संसार के बारे में बहुत जानता है। दुनिया भर का नॉलेज रखता है। लोगों की समस्याओं के बारे में सोचता रहता है। भौतिक पदार्थों के आकर्षणों में खोया रहता है परंतु अपने बारे में वह कुछ नहीं जानता। अपनी समस्याओं के उलझे धागों को सुलझाने में असमर्थ है। अपने भीतर की ओर कभी नहीं झांकता। स्वयं को जानने का कभी प्रयास ही नहीं करता। पूरे संसार से परिचित होने के बावजूद भी वह स्वयं से अनजान बना हुआ है।

एक ज्योतिषी आकाश मार्ग को देखता हुआ चल रहा था। रात्रि का समय था। चन्द्रमा और नक्षत्रों की जानकारी करता हुआ वह गड्ढे में गिर गया। वह सहायता के लिए चिल्लाने लगा। एक बुढ़िया ने उसकी आवाज सुनी। हाथ का सहारा देकर ज्योतिषी को बाहर निकाला। धन्यवाद देते हुए ज्योतिषी ने कहा—मां! तुम मुझे जानती होगी, मैं यूनान देश का सबसे बड़ा ज्योतिषी हूं। तुम्हें कभी अपने भविष्य के बारे में जानकारी करनी हो तो मेरे पास आ जाना। बुढ़िया ने हंसते हुए कहा—बाबा! रहने दो शेखी बघारना। स्वयं के भविष्य को तो जानते नहीं और बात कर रहे हो लोगों के भविष्य की। अच्छा होगा कि पहले खुद के भविष्य को तो जान लो ताकि गड्ढे में न गिरो।' कहने का तात्पर्य है कि जिसने स्वयं को पहचान लिया वह कभी अज्ञान, मोह, कषाय आदि के गड्ढे में नहीं गिर सकता। कहा जाता है—'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।' जो एक अपनी आत्मा को जान लेता है वह सबको जान लेता है। आत्म-साक्षात्कार ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। हालांकि यह सच है कि आत्म-साक्षात्कार के लिए कहना जितना सरल है, करना उतना ही कठिन है। गुरुदेव तुलसी ने एक सूक्त के माध्यम से इस सचाई को प्रकट करते हुए लिखा है—'एक घर ऐसा है जिसमें सदा रहा जा सकता है पर रहना कठिन है। वह घर है—'व्यक्ति की अपनी आत्मा।' आत्मा को भले ही हम चर्मचक्षुओं से न देख सकें, उसका स्पर्श न कर सकें पर वह है अवश्य। साधना के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, आत्मा को देखा जा सकता है।

२४

दुःख मुक्ति का मार्ग

राजर्षि भर्तृहरि परिग्रह से मुक्त होने के बाद भी उसकी आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाए। एक दिन उन्होंने सड़क पर हीरा गिरा हुआ देखा। तत्काल उसे लेने की इच्छा हो गई। उसी समय दो घुड़सवार उधर से निकले। दोनों अपने-अपने घोड़े से नीचे उतरे। एक घुड़सवार बोला—इस हीरे को पहले मैंने देखा था, इसलिए यह हीरा मेरा है। दूसरे ने कहा—यह हीरा मेरा है। बात-बात में दोनों की तलवारें निकल गई। एक दूसरे पर वार किए और दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गए। राजर्षि भर्तृहरि ने यह दृश्य देखा और सोचने लगे—'यह हीरा किसी के साथ अपनत्व नहीं जोड़ता इसलिए यह न सुखी होता है और न दुखी होता है। इसे किसी प्रकार का संवेदन नहीं होता। मनुष्य के सुख-दुःख का कारण है—आसक्ति। जब तक आसक्ति रहेगी, दुःख का अंत नहीं होगा। इस सोच ने भर्तृहरि के विचारों को बदल दिया। वे भौतिक वैभव की आसक्ति को छोड़ आत्म-वैभव को पाने के लिए कृत-संकल्प हो गए।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा के वैभव को कौन प्राप्त कर सकता है? समाधान की भाषा में कहा गया—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः।।

जिस व्यक्ति का मन रूपी जल राग-द्वेष रूपी तरंगों से तरंगित नहीं होता, जो राग-द्वेष मुक्त हो जाता है, वही व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार कर सकता है, आत्म वैभव को प्राप्त कर सकता है। जैसे—तालाब पानी से भरा हुआ है।

उसके अंतस्तल को देखने के लिए अपेक्षा है कि तालाब का पानी स्वच्छ हो, उसमें तरंगें न हो तो तालाब के भीतरी भाग को देखा जा सकता है। यदि आदमी को दर्पण में अपना चेहरा देखना हो तो जरूरी है कि दर्पण साफ हो, स्थिर हो और अनावृत हो। इसी प्रकार आत्मा का चेहरा देखना है, आत्म वैभव को प्राप्त करना है तो मन रूपी दर्पण साफ, स्थिर और अनावृत होना चाहिए। जिसका मन विशुद्ध है, निर्मल है, राग-द्वेष मुक्त है वह व्यक्ति आत्म वैभव प्राप्त करने के लिए अर्ह हो सकता है।

शिष्य ने जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा—भंते! मैं राग-द्वेष से मुक्त कैसे रह सकता हूं? गुरु ने कहा—वत्स! शुद्ध उपयोग की साधना करो। शुद्ध उपयोग का मतलब है—केवल जानना, केवल देखना। यह सहज क्रिया है। जो व्यक्ति सहजता में रहता है वह शुद्ध उपयोग में जीता है और जो कृत्रिमता में रहता है, वह अशुद्ध उपयोग में जीता है। साधक को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उपयोग शुद्ध है या अशुद्ध? प्रवचनसार में बताया गया है कि—

सुविदितपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगे त्ति।।

जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भलीभांति जान लिया है, जो संयम और तप से युक्त हैं, जो वीतराग हैं और जिनके लिए सुख-दुःख समान हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है। साधक के लिए देखना भी जरूरी है, जानना भी जरूरी है किंतु वह केवल देखे, केवल जाने, ज्ञाता-द्रष्टा भाव बना रहे। साधक से पूछा गया—आपकी साधना क्या है? साधक ने कहा—भूख लगने पर भोजन कर लेता हूं। प्यास लगने पर पानी पी लेता हूं। जब नींद सताने लगती है तब नींद ले लेता हूं। प्रश्नकर्ता ने कहा—यह सब तो हम भी करते हैं। हम भी खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं। इसमें आपकी कौनसी साधना हैं? साधक ने अपने कथ्य का मर्म समझाते हुए कहा—'मैं आहार करते समय केवल आहार करता हूं। सोते समय केवल सोता हूं। हर कार्य राग-द्वेष मुक्त रहकर करने का प्रयास करता हूं जबकि एक सामान्य आदमी राग से प्रेरित होकर कार्य करता है तो कभी द्वेष से प्रेरित होकर।'

आदमी राग-द्वेष से मुक्त रहने की साधना करे। द्रष्टाभाव का विकास करे। जो भी घटना घटित हो उसे केवल देखना सीखे, उसके साथ जुड़े नहीं। जो व्यक्ति घटना के साथ खुद को जोड़ देता है वह दुःखी बन जाता है और

जो केवल द्रष्टा भाव से घटना को देखता है वह दुःख मुक्त रहता है। जीवन में समस्या आ सकती है। समस्या का आना एक बात है और समस्या से दुःखी बन जाना दूसरी बात है। जो महापुरुष होते हैं, वे सक्षम होते हैं, साधना-संपन्न होते हैं, वे समस्याओं को द्रष्टा भाव से देख लेते हैं किन्तु भोगते नहीं, दुःखी नहीं बनते। जो व्यक्ति अतीत की स्मृति में उलझा रहता है या भविष्य की कल्पना के मधुर सपने देखता है, वर्तमान उसके हाथ से छूट जाता है। वह जीवन में दुःख का अनुभव करता है। जो आदमी वर्तमान में जीना जानता है, जानते हुए कार्य को संपादित करता है, विचारों की धारावाही श्रृंखला को तोड़ निर्विचारता की साधना करता है, वह भावशुद्धि की आराधना करता है। भावों की विशुद्धता ही साधक को शुद्धोपयोग की दिशा में प्रस्थान कराती है।

शुद्ध उपयोग की साधना, राग-द्वेष मुक्ति की साधना है, जिस उपक्रम से राग-द्वेष शांत हो सके, उसकी आराधना करनी चाहिए। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को समता के साथ सहने का अभ्यास करना चाहिए। फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्ते से उनके एक हितैषी ने पूछा—लोग आपकी बुराई करते हैं। आप उनका प्रतिकार क्यों नहीं करते? देकार्ते ने कहा—प्रतिकार कैसे करूं? मुझे कोई बुराई करने वाला दिखाई ही नहीं देता। हितैषी ने कहा—यह कैसे हो सकता है? देकार्ते ने कहा—लोग जब-जब बुराई करते हैं मैं तब-तब अपनी आत्मा को इतनी ऊंचाई पर ले जाता हूं कि उनकी गालियां वहां तक पहुंच ही नहीं पाती।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति से अप्रभावित रहना ही तो साधना है। साधना के उर्ध्वारोहण में मूलभूत तत्त्व है—भाव-विशुद्धि। जब व्यक्ति का विभावों से विराग और स्वभाव से अनुराग हो जाता है तब ज्ञाता-द्रष्टा भाव पुष्ट होने लगता है। फिर उसे परिस्थितियां सुखी-दुःखी नहीं बना सकती है। यह ज्ञाता-द्रष्टा भाव ही शुद्धोपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है।

२५

सहज आनंद के बाधक तत्त्व

जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है—निर्बाध-चित्त समाधि। आदमी के जीवन में अनेक परिस्थितियां आती हैं। कभी भयंकर प्रतिकूलता की स्थिति आ सकती है तो कभी अत्यंत अनुकूलता की स्थिति भी बन सकती है। इन दोनों स्थितियों में जो व्यक्ति तटस्थता की साधना करता है वह निर्बाध चित्त समाधि को अथवा सहज प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है। प्रसन्नता को खण्डित करने वाले कुछ बाधक तत्त्व हैं।

पहला बाधक तत्त्व है—चिंता। कहा जाता है चिता मुर्दे को जलाती है और चिंता जीवित आदमी को जलाती है। चिंता शरीर को कमजोर बनाती है। संस्कृत साहित्य में बताया गया है—

चिन्तया नश्यते रूपं, चिन्तया नश्यते बलम्।
चिन्तया नश्यते ज्ञानं, व्याधिर्भवति चिंतया।।

चिंता रूप, बल व ज्ञान का नाश करती है और व्याधि को उत्पन्न करती है।

जो व्यक्ति अनावश्यक सोचता है, चिंता करता है वह अपने जीवन में कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। महायुद्ध के बाद चर्चिल प्रतिदिन लगभग १८ घंटे काम करता। एक बार किसी ने पूछा—आप इतना काम इतनी कुशलता से कैसे कर लेते हैं? क्या आपको काम की चिंता नहीं होती? चर्चिल ने मुस्कराते हुए कहा—मुझे चिंता करने के लिए समय ही नहीं मिलता है। जीवन में समस्या आ सकती है। यदि हमारा चिंतन सम्यक है तो समस्या का समुचित निराकरण हो

सकता है। स्थिति जटिल भी हो सकती है पर मन को जटिल न बनायें, मन को शांत रखें। यदि मन शांत है, प्रसन्न है तो समस्या का समाधान आसानी से हो सकता है। आचार्य तुलसी ने एक सूत्र दिया 'चिंता नहीं चिंतन करो।' हम अपने चिंतन को स्वस्थ एवं सम्यक् बनाये।

राजा संन्यासी के पास पहुंचा और कहा—कोई ऐसा मंत्र दीजिए जिससे मैं सुख-शांति एवं निर्बाध चित्त समाधि को प्राप्त कर सकूं। संन्यासी ने एक छोटा सा मंत्र देते हुए कहा 'यह भी बीत जाएगा' इस छोटे से वाक्य ने राजा के जीवन की दिशा बदल दी।

घटना से दुःख नहीं होता, दुःख होता है मन की कमजोरी से। मन कमजोर है तो राई जितनी छोटी घटना भी पहाड़ जितनी बड़ी बन जाती है और यदि मन मजबूत है तो पहाड़ जितनी बड़ी घटना भी राई जितनी छोटी महसूस होती है। चिंता मन को दुर्बल बनाती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

चिंते! दुर्बलतास्ति किं तव सखी यत्सार्धमेवेक्ष्यते
नैवं किंतु ममास्ति विश्वविजयी दुःखाभिघो नन्दनः।
तस्यैषा रमणीति वल्लभतरा जाता मदीया स्नुषा
श्वश्रूभक्तिपरायणान्वहमतो नो याति दूरं क्वचित्।।

हे चिंते! क्या दुर्बलता तेरी सहेली है। जो सदा तेरे साथ दिखती है। चिंता ने उत्तर दिया—'नहीं, किंतु दुःख नामक जो मेरा विश्वविजयी पुत्र है, उसकी यह प्रिय पत्नी होने के कारण दुर्बलता मेरी पुत्रवधू है। यह सास की भक्ति में तत्पर रहने वाली है इसलिए यह मेरे से कभी दूर नहीं जाती है।

हम अपने मन को मजबूत बनायें। जिसका चिंतन सम्यक् है और 'यह भी बीत जाएगा' इस वाक्य को हमेशा स्मृति में रखता है वह निर्बाध चित्त समाधि को प्राप्त कर सकता है।

प्रसन्नता में दूसरा बाधक तत्त्व है—काम। कामासक्त व्यक्ति कभी अपने जीवन में चित्त समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। काम आदमी को विक्षिप्त कर देता है। काम बाहर प्रकट न भी हो, मन में भी काम है तो वह दुःख का हेतु बन सकता है। व्यक्ति शरीर से अकाम दिखाई देता है किन्तु भीतर मन से सकाम है तो दुःख उत्पन्न हो सकता है। आगम साहित्य में कहा गया है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।

काम शल्य है, विष है और आशीविषसर्प के समान है। काम की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

संन्यासी आश्रम में रहता था। छोटी अवस्था में ही संन्यास जीवन को स्वीकार कर लिया। संन्यासी बनने के बाद मन को नियंत्रित रखने की साधना की जाए, काम विजय का अभ्यास किया जाए तो साधना का पथ प्रशस्त हो सकता है। मूल बात है कि लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। लक्ष्यहीन आदमी मंजिल तक कैसे पहुंच सकता है? लक्ष्य की स्पष्टता के बाद उस दिशा में पुरुषार्थ भी सम्यक् होना चाहिए। संन्यासी का संभवतः लक्ष्य भी अधिक स्पष्ट नहीं था और जितना स्पष्ट था उतना पुरुषार्थ उस दिशा में नहीं था। मन में काम-वासना की भावना बनी रहती थी। न धर्म-ग्रंथों का अधिक स्वाध्याय करता, न ध्यान, जप का विशेष प्रयोग करता। प्रायः बहिर्मुखी वृत्ति वाला बन चुका था किन्तु संन्यास का जीवन था इसलिए खुला भोग भी उसके लिए वर्जनीय था। संन्यासी के आश्रम के सामने एक युवा जोड़ा रहता था। संन्यासी जब-जब उन दोनों पति-पत्नी को देखता तब-तब सोचता, मैंने बहुत बड़ी भूल की है संन्यास स्वीकार कर। इनका जीवन धन्य है। ये मनुष्य जीवन का लाभ उठा रहे हैं। भोगों में मस्त हैं। संन्यासी बाहर से अकाम होते हुए भी मन से काम की प्रार्थना कर रहा था जबकि पति-पत्नी उस संन्यासी को देखते तब सोचते, बाबाजी का जीवन धन्य है। हम असंयम का जीवन जी रहे हैं और बाबाजी संयम का जीवन जी रहे हैं। वह दिन धन्य होगा जब हमें भी संयम जीवन प्राप्त होगा।

पति-पत्नी दोनों गृहस्थ में रहते हुए भी संयम की प्रार्थना कर रहे थे। कथाकार का कथन है कि संन्यासी मरकर अधोगति में गया और दंपति मरकर स्वर्ग को प्राप्त हुए।

शरीर को टिकाने के लिए पदार्थ का उपयोग भी अपेक्षित हो सकता है। खाना भी होता है, पीना भी होता है। पदार्थ के उपभोग के साथ-साथ इंद्रिय विजय की साधना भी चले। इंदियों का उपयोग करते हुए भी भौतिक पदार्थों का उपयोग करते हुए भी व्यक्ति अकाम रह सकता है, अनासक्त रह सकता है।

प्रसन्नता में तीसरा बाधक तत्त्व है—समता का अभाव। समता का अर्थ है—राग द्वेष से मुक्त रहना। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को समभाव से सहन करना। प्रतिकूल परिस्थितियों को सहना कठिन हो सकता है किन्तु कभी-कभी अनुकूल परिस्थिति को सहना कठिनतर हो सकता है। सहन करने के पीछे मजबूरी न हो, स्ववशता हो। समता के अभाव में आदमी प्रतिकूलता में शोकाकुल बन जाता है, दुःखी बन जाता है और अनुकूलता की स्थिति में हर्षान्वित बन जाता है।

आयारो में कहा गया—'एत्थंपि अग्गहे चरे' यह अग्रहण का सिद्धांत प्रतिक्रिया से बचाता है। हम हर बात को ग्रहण न करें। हमारा दिमाग कोई कूड़ादान नहीं है। वह भगवान का मंदिर है इसलिए हम प्रतिक्रिया से बचें और भावक्रिया का अभ्यास करें, वर्तमान में जीना सीखें। समता और सहजता का जीवन जीने वाला व्यक्ति ही निर्बाध चित्त समाधि को प्राप्त कर सकता है।

सम्राट श्रेणिक महात्मा बुद्ध के पास गया। बुद्ध के पास अनेक भिक्षु बैठे थे। श्रेणिक भी उपासना में बैठ गया। उसने देखा—बौद्ध भिक्षु कितने प्रसन्न हैं? इनके चेहरों से कितना आह्लाद, कितना आनंद टपक रहा है?

यथार्थ में जो साधक होता है उसे आनंद अवश्य मिलता है। गुरुदेव तुलसी द्वारा प्रणीत परमेष्ठी वंदना में कहा गया है—

सदा लाभ अलाभ में, सुख-दुःख में मध्यस्थ हैं,
शांतिमय, वैराग्यमय, आनंदमय आत्मस्थ हैं।
वासना से विरत आकृति सहज परम प्रसन्न हैं,
साधना धन साधु अंतर्भाव में आसन्न हैं।।

जो साधु सदा लाभ और अलाभ में सम रहता है, सुखः-दुःख की स्थितियों में तटस्थ रहता है, मध्यस्थ रहता है, शांतिपूर्ण, वैराग्यपूर्ण और सहज आनंद का जीवन जीता है, जो वासना मुक्त है वह प्रसन्न रहता है। साधना ही जिसका धन होता है, ऐसा साधु अपने अंतर्भाव में अवस्थित रहता है।

सम्राट श्रेणिक ने सोचा—इन भिक्षुओं का जीवन कितना कष्टमय है? इनको कभी अनुकूल अथवा पर्याप्त आहार-पानी मिलता है तो कभी नहीं मिलता। ये तपस्या का जीवन जीते हैं, फिर भी उनके चेहरे कितने प्रसन्न हैं? मेरे राजकुमार, जिन्हें प्रायः सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं फिर भी इनके चेहरे मायूस, उदास और

निराश दिखाई देते हैं, इसका क्या कारण है—महात्मा बुद्ध ने कहा—राजन्! मेरे भिक्षु संतोष, समता और सहजता का जीवन जीते हैं। इन्हें जो कुछ प्राप्त होता है उसी में संतुष्ट रहते हैं। कल भिक्षा में क्या मिलेगा? उसकी चिंता नहीं करते। ये निश्चिंतता के साथ वर्तमान में जीना जानते हैं। तुम्हारे राजकुमार सुविधाओं से सम्पन्न हैं पर संतोष कहां है? समता की साधना कहां है? वर्तमान में जीना कहां जानते हैं? जो भविष्य की कल्पनाओं और अतीत की स्मृतियों में खोए रहते हैं उन्हें आनंद कैसे प्राप्त हो सकता है? जो असंतोष और आकांक्षा का जीवन जीते हैं वे सुविधा-संपन्न होने पर भी आनंद सम्पन्न नहीं बन सकते। जिसके जीवन में समता व सहजता है वही वास्तव में आनंद व निर्बाध चित्त-समाधि को प्राप्त कर सकता है।

२६

नास्तिक भी सदाचारी रहे

जैन दर्शन में नव तत्त्व माने गए हैं। आचार्य उमास्वाति, जो जैन परंपरा के महान आचार्य हुए हैं, ने तत्त्वार्थ-सूत्र में सात तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। सात और नव की संख्या में कोई खास अंतर नहीं है। पुण्य और पाप को अलग से न गिना जाए तो सात हो जाते हैं और अलग गिनती करने पर नौ हो जाते हैं, यह विवक्षा है। दुनिया में मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। इन दो के विस्तार से सात बन सकते हैं, नौ बन सकते हैं और सैकड़ों भी बनाए जा सकते हैं। नौ तत्त्वों में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं। इनमें चार युगल हैं। ये युगल भी ऐसे जो एक-दूसरे के विपरीत हैं। जीव से विपरीत अजीव, पुण्य से विपरीत पाप, आश्रव से विपरीत संवर और बंध से विपरीत मोक्ष। ये सब विरोधी स्वभाव वाले हैं।

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है—जीव। 'चैतन्यलक्षणो जीवः' जिसमें चैतन्य है, जानने की प्रवृत्ति है, अनुभूति की क्षमता है, वह जीव है। इस दुनिया में एक-दो-तीन नहीं, अनंत-अनंत जीव हैं। जीवों के मुख्य रूप से दो भेद किए गए हैं—सिद्ध जीव और संसारी जीव। सिद्ध जीव वे होते हैं, जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष में अवस्थित हो जाते हैं। जिनके न शरीर है, न वाणी है और न ही मन है। वे अशरीर, अवाक् और अमन होते हैं। परम आनंदमय, ज्ञानमय और शक्तिमय होते हैं।

जैन दर्शन अवतारवाद को इस रूप में नहीं मानता कि कोई ईश्वर अवतार ग्रहण करे, जैसा कि गीता में कहा गया—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः,
अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।

जैन दर्शन का मंतव्य है कि परमात्मा या विशुद्ध आत्मा कभी भी संसार में जन्म नहीं ले सकती। साधना के द्वारा इंसान भगवान बन सकता है किंतु भगवान कभी इंसान के रूप में जन्म नहीं ले सकता। जैन दर्शन अवतारवाद को स्वीकार नहीं करता। आदमी साधना, तपस्या आदि के द्वारा ऊंचा उठ सकता है और परमात्मा के रुप में प्रतिष्ठित हो सकता है। सिद्ध या परमात्मा कोई भी व्यक्ति बन सकता है, यदि उसमें भव्यता हो, योग्यता हो। एक स्त्री भी सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है। एक पुरुष भी परमात्मा बन सकता है। जैन मुनि के वेश में रहने वाला व्यक्ति भी सिद्ध हो सकता है और जैनेत्तर मुनि का वेश पहनने वाला व्यक्ति भी सिद्ध हो सकता है।

जीवों का दूसरा विभाग है संसारी। 'संसरति इति संसारी' जो संसरण करता है, एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ग्रहण करता है, वह संसारी जीव कहलाता है। प्रश्न उठा—जीव जन्म-मरण क्यों करता है? दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—

आत्मा के भीतर जब तक क्रोध, मान, माया और लोभ रहते हैं, वे आत्मा को आगे जाने के लिए प्रेरित करते हैं। जैसे ही कषाय समाप्त हो जाते हैं, आत्मा मुक्त हो जाती है और हमेशा के लिए परमात्मा के रूप में अवस्थित हो जाती है। आत्मा शाश्वत है। वह कभी समाप्त नहीं होती। उसका अस्तित्व हमेशा रहता है। वह शरीर का परिवर्तन करती रहती है। गीता में कहा गया—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे आदमी पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है। वह कभी नष्ट नहीं होती। प्रश्न हो सकता है कि आत्मा शाश्वत है तो क्या उसे देखा जा सकता है? तत्त्वविद्या में कहा गया—आत्मा अमूर्त है। वह न लाल है,

न काली है, न पीली है, न सफेद है, न हरी है। उसका न कोई रंग है न कोई रूप।

एक महात्माजी किसी गांव में गए। अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर 'आत्मा' पर लंबा वक्तव्य दिया। एक युवक, जो अपने आपको बौद्धिक मानता था, बोला—महात्मन! आपने प्रवचन दिया, बड़ा श्रम किया, इसके लिए आपके प्रति हमारा आभार ज्ञापन। किंतु बाबाजी! इतना सुनने के बाद भी आत्मा के अस्तित्व में मेरा कोई विश्वास नहीं है। मैं नास्तिक दर्शन चार्वाक को मानता हूं, जिसका सिद्धांत है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, तावत् वैषयिकं सुखम्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ?॥

जब तक जीओ, सुख से जीओ। वैषयिक सुखों का भोग करो। क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने के बाद पुनर्जन्म जैसा कुछ नहीं है। जो कुछ है, इसी जीवन में है। फिर भी मेरा आग्रह नहीं है। यदि आप मुझे आत्मा को हाथ में लेकर दिखा दें तो मैं मान लूंगा कि आत्मा भी कोई चीज है। संत ने सोचा, इसे युक्ति से समझाना चाहिए। बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—युवक! तुमने कभी स्वप्न देखा है? युवक—हां महाराज! कल रात ही मैंने बड़ा सुंदर स्वप्न देखा था। लोकसभा का चुनाव हुआ और उसमें मैं जीत गया। मुझे प्रधानमंत्री बना दिया गया। १५ अगस्त का दिन आया। मैंने लालकिले से जनता को संबोधित किया। यह सब कुछ मैंने स्वप्न में देखा था। संन्यासी ने कहा—युवक! मैं कैसे विश्वास करूं कि तुमने स्वप्न देखा था। यदि स्वप्न को हाथ में लेकर दिखाओ तो मैं मान सकता हूं कि तुमने सपना देखा था। युवक—महात्मन! स्वप्न को तो नींद में ही देखा या भोगा जा सकता है। संन्यासी—जब तुम स्वप्न को हाथ में लेकर नहीं दिखा सकते तो मैं अमूर्त आत्मा को हाथ में लेकर कैसे दिखा सकता हूं। युवक को बोध पाठ मिल गया।

विवेक संपन्न आदमी यह चिंतन करे कि आत्मा है अथवा नहीं है फिर भी धर्म करना चाहिए। सदाचार के रास्ते पर चलना चाहिए। एक संस्कृत श्लोक सुंदर पथ-दर्शन करता है—

संदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुभं बुधैः।
यदि नास्ति ततः किं स्यात्, अस्ति चेन्नास्ति को हतः॥

बुद्धिमान लोगों को परलोक के विषय में संदेह होने पर भी पापाचरण नहीं करना चाहिए। अगर परलोक नहीं भी है तो सदाचार के रास्ते पर चलने से नुकसान क्या हुआ? अगर परलोक है तो कदाचार के रास्ते पर चलने वालों का कितना बुरा हाल होगा। हमारे धर्मसंघ में महान तेजस्वी आचार्य हुए हैं—डालगणि। भुवाणा का प्रसंग है। बच्छराजजी सिंघी नामक एक भाई जो कि जोधपुर के राजमुसद्दी थे, ने डालगणि से कहा—मुझे तो कभी-कभी आपके नियमों को, कष्टपूर्ण आचरणों को देखकर चिंता होने लगती है कि खाने-पीने और मौज करने की हमारी मान्यता यदि ठीक निकली तो आपका यह सारा कष्ट-सहन निरर्थक ही जाएगा। डालगणि ने उनके कथन का कोई प्रतिकार नहीं करते हुए उनसे ही प्रश्न किया—इससे अधिक तो कुछ नहीं होगा न? सिंघीजी ने कहा—और तो फिर क्या होगा? डालगणि ने पुनः प्रश्न किया—यदि हमारी मान्यता सत्य निकली तो? सिंघीजी ने हंसते हुए कहा—'तब तो मेरे जैसे लोगों के इतने जूत पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झेल पाएगी।'

परलोक हो या न हो पर आदमी को सदाचार के रास्ते पर चलना चाहिए। मोक्ष हमारे लिए अत्यंत परोक्ष है। स्वर्ग-सुख भी परोक्ष हैं किंतु वर्तमान जीवन हमारे सामने है। वर्तमान जीवन को अच्छा बनाने के लिए, सुखी बनाने के लिए और वर्तमान समाज को स्वस्थ रखने के लिए भी आदमी को सदाचार के रास्ते पर चलना चाहिए। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया—

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यंतपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न च व्ययप्राप्तम्।।

जैन दर्शन का सिद्धांत आत्मवाद का सिद्धांत है। आत्म प्राप्ति के लिए, आत्म दर्शन के लिए, आत्म साक्षात्कार के लिए साधना की अपेक्षा होती है और वह साधना है, राग-द्वेष मुक्ति की साधना। जिस उपक्रम के द्वारा आदमी का राग-द्वेष शांत हो सके, चाहे स्वाध्याय से हो, ध्यान से हो, अनुप्रेक्षा से हो अथवा अन्य किसी तरीके से हो, वही रास्ता सबसे बढ़िया रास्ता है। आदमी ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करे। जो भी घटना सामने आए, उसे बिना राग-द्वेष के देखना सीखे। जीवन में समस्या आ सकती है। समस्या का आना एक बात है और समस्या से दुःखी बन जाना दूसरी बात है। महापुरुषों के जीवन में भी समस्याएं आ सकती हैं। गुरुदेव तुलसी को हमने निकटता से देखा। उनके जीवन में भी अनेक-अनेक समस्याएं आईं। किंतु गुरुदेव तुलसी तो उच्च कोटि

के साधक थे। बड़े मनोबली व्यक्ति थे। वे समस्याओं से प्रायः अप्रभावित रहते हुए उसका समाधान खोजने का प्रयास करते थे। महापुरुष सक्षम होते हैं, साधना-संपन्न होते हैं, वे समस्याओं का समाधान खोज लेते हैं, उन्हें भोगते नहीं हैं। साधनाशील व्यक्ति भी समस्या को देखना सीखें, हल निकालना सीखें किंतु उसे भोगे नहीं। तभी वह साधना के क्षेत्र में विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

२७

'प्रेक्षाध्यान' साधना के दो रूप

प्रेक्षाध्यान 'जैन योग-पुनरुद्धारक' आचार्यश्री महाप्रज्ञ का योग के क्षेत्र में एक महान अवदान है। प्राचीन जैन ग्रंथों के दीर्घकालीन अन्वेषणपूर्ण अध्ययन एवं अनुशीलन के आधार पर इस साधना-पद्धति को विकसित किया गया है। साथ ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं से भी उसे समृद्ध बनाया गया है। इसलिए यह जितनी प्राचीन जैन योग पर आधृत है, उतनी ही आधुनिक विज्ञान-सम्मत भी है।

प्रेक्षाध्यान आत्म-शोधन की एक संपूर्ण प्रक्रिया है, स्वयं के अन्दर झांकने की एक अनुभव सिद्ध पद्धति है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भाव-शुद्धि, वृत्ति-शोधन, तनाव-मुक्ति, आवेग-नियंत्रण आदि इसके विभिन्न फलित हैं। वीतरागता इसका नाभिकीय तत्त्व है। धर्म को प्रायोगिक धरातल प्रदान करना इसका पवित्र उद्देश्य है।

प्रेक्षाध्यान में दो प्रकार के प्रयोग हैं—१. काल प्रतिबद्ध २. काल-अप्रतिबद्ध।

कायोत्सर्ग, अंतर्यात्रा, श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केंद्र प्रेक्षा, लेश्या ध्यान आदि प्रेक्षाध्यान पद्धति के अंतर्गत काल-प्रतिबद्ध प्रयोग हैं। काल-प्रतिबद्ध इसलिए कि एक निश्चित काल-अवधि तक ही प्रयोग/अभ्यास किया जा सकता है। निरंतर ये प्रयोग नहीं किए जा सकते। समता, भाव-क्रिया और निवृत्तियुक्त प्रवृत्ति—ये सब प्रेक्षाध्यान पद्धति के अंतर्गत काल-अप्रतिबद्ध प्रयोग हैं। इनके प्रयोग या साधना के लिए किसी निश्चित

समय-अवधि की अपेक्षा नहीं होती। व्यक्ति इनका अभ्यास निरंतर कर सकता है।

समता की साधना से तात्पर्य है—राग-द्वेषमुक्त होकर जीना। गहराई से देखा जाए तो यह राग-द्वेषमुक्त साधना ही धर्म है, अहिंसा है, ध्यान है। प्रेक्षाध्यान के साधक का चलना, बैठना, सोना, खाना, पीना, बातचीत करना आदि सभी क्रियाएं राग-द्वेष के विकल्पों से मुक्त यानी समतायुक्त होना चाहिए।

भावक्रिया से तात्पर्य है—जागरूकतापूर्वक प्रवृत्ति करना। व्यक्ति जिस समय जो प्रवृत्ति कर रहा है, उसके साथ उसकी चेतना समग्रता के साथ जुडी हुई रहनी चाहिए। ऐसी क्रिया ही जीवित क्रिया होती है। व्यक्ति जिस समय चल रहा है, उस समय उसकी चेतना केवल चलने पर ही केंद्रित होनी चाहिए। इसी प्रकार बोलने के समय मात्र बोलने पर और खाते समय मात्र खाने पर ही ध्यान केंद्रित होना चाहिए। जहां क्रिया के साथ व्यक्ति की चेतना समग्रता के साथ नहीं जुडती, वहां इस अपेक्षा से मृत क्रिया होती है। प्रेक्षाध्यान के साधक के लिए वह नितांत अपेक्षित है कि अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को जागरूकतापूर्वक करे, उसे भाव-क्रिया बनाए।

निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति का अभ्यास करना साधना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग में प्रवृत्ति पर निवृत्ति का अंकुश रहता है। अनावश्यक न सोचना, अनावश्यक शारीरिक चेष्टा न करना, अनावश्यक न बोलना निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति के लक्षण हैं। मैं देखता हूं, कुछ साधक दिन में एक-दो घंटे मौन का अभ्यास/साधना करते हैं। यह अच्छा है, पर यह मौन-साधना का एक प्रकार है। मौन साधना का दूसरा प्रकार है—अनावश्यक न बोलना, अनपेक्षित एक भी शब्द का प्रयोग न करना। आवश्यकतावश बोलते समय अनावश्यक जोर से न बोलना, धीमे बोलना।

यों तो आत्म-दर्शन के लिए काल-प्रतिबद्ध और काल-अप्रतिबद्ध दोनों ही प्रकार के प्रयोग उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर एक अपेक्षा से काल-अप्रतिबद्ध प्रयोग अधिक उपयोगी व महत्त्वपूर्ण हैं। इनको जीवनगत बनाकर व्यक्ति क्षण-क्षण में प्रेक्षाध्यान की साधना कर सकता है, पूर्णकालिक साधक बन सकता है।

प्रेक्षाध्यान और अणुव्रत एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। दोनों मिलकर जीवन के समुचित विकास का एक समग्र दर्शन बनते हैं। इसलिए अपेक्षा है कि अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार करने वाले व्यक्ति प्रेक्षाध्यान के साधक बनें तथा प्रेक्षाध्यान के साधक अणुव्रत की आचार-संहिता को अपनाएं।

२८

आध्यात्मिक वैभव

अधिकार रखना आदमी की सामान्य मनोवृत्ति है। व्यक्ति सामान्यतः दूसरों पर अपना अधिकार रखने या बतलाने का प्रयास करता है। इस 'अधिकार वृत्ति' में यदि रूपांतरण कर दिया जाए और दूसरों की अपेक्षा स्वयं पर अधिकार करने का प्रयास किया जाए तो आत्म-नियंत्रण की प्रणाली का निर्माण हो सकता है।

कई प्रकार की शासन-प्रणालियां हैं—एकतंत्रीय शासन-प्रणाली, जनतंत्रीय शासन-प्रणाली आदि। शासन पद्धतियां अथवा प्रणालियां सदैव दूसरों से संबद्ध रही हैं। जहां स्वयं पर शासन करना होता है, वहां आत्मानुशासन की प्रणाली ही काम में आती है। अध्यात्मनीति और राजनीति में यही अंतर है। राजनीति का सूत्र है—'दुष्टस्य दंडे सुजनस्य पूजा' अर्थात् दुष्ट आदमी को दंडित किया जाना चाहिए और सज्जन का सम्मान होना चाहिए। अध्यात्मनीति में व्यक्ति स्वयं पर ध्यान केंद्रित करता है। वह अपनी ही दुष्टता और सज्जनता पर विचार करता है। शठ व्यक्ति के साथ शठता का व्यवहार करो, यह राजनीति का सूत्र हो सकता है, सामान्य आदमी के जीवन का सिद्धांत भी बन सकता है, किंतु जिसको आत्म-साधना करनी है, उस साधना में जिसे आगे बढना है, वहां सूत्र होगा—'शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो।'

शत्रु कौन होता है? आगम में बताया गया—'अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ'—दुष्प्रवृत्त आत्मा ही शत्रु है और सत्प्रवृत्त आत्मा ही मित्र है। जो व्यक्ति प्रतिकूल व्यवहार करता है, अभद्रता का व्यवहार करता है, अहित

करने का प्रयास करता है, उसके प्रति भी मित्रता का व्यवहार रखना बहुत बडी साधना है। ऐसा व्यवहार कोई महापुरुष ही कर सकता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति को यह परामर्श दिया गया कि—'अभी आपके पास सता है, क्यों नहीं अपने शत्रुओं को मिटा दें?' राष्ट्रपति का उत्तर था—'यही काम तो कर रहा हूं।' परामर्श देने वाले का प्रतिकथन था—'शत्रुओं को कहां मिटा रहे हैं, आप तो उनके साथ अच्छा व्यवहार कर रहे हैं। राष्ट्रपति महोदय ने कहा—मैं अपनी मित्रता के द्वारा उनकी शत्रुता को मिटाने का प्रयास कर रहा हूं।' ऐसा चिंतन किसी विरल व्यक्ति का ही हो सकता है। अपने प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वालों के प्रति भी मित्रता का, स्नेह का, करुणा का व्यवहार विशिष्ट व्यक्ति ही कर सकता है। अगर ऊंचाई तक पहुंचना है तो चिंतन भी ऊंचा करना होगा, विचार भी ऊंचा रखना होगा और आचार को भी उन्नत बनाना होगा।

कोई आदमी अपराध करता है, अहित करता है तो गुस्सा आ जाता है। गुस्सा अपराधी पर आता है, तो अपने 'गुस्से' पर गुस्सा क्यों नहीं आता? जब अपना 'गुस्सा' अपने लिए अप्रिय बन जाए और छोडने के लिए प्रयास शुरू हो जाए तो निश्चित ही व्यक्ति साधना के पथ पर आगे बढ सकता है। आदमी क्रोध करता है—उससे लाभ क्या हुआ? चिंतनशील व्यक्ति को हर कार्य में लाभ-हानि का विचार करना ही चाहिए। अमुक काम करने से मुझे लाभ क्या होगा और हानि क्या होगी? कौन-सा पलडा भारी है? अगर लाभ ही लाभ है, हानि नहीं है तो वह काम अवश्य करना चाहिए। लाभ अधिक और हानि कम हो तो भी वह काम किया जा सकता है। जिस काम में हानि ज्यादा और लाभ कम हो अथवा नहीं हो तो वैसा काम चिंतनशील व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

अल्पस्य हेतोः बहु हातुमिच्छन्,
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

वह आदमी मूढ होता है अथवा विवेकशून्य होता है जो थोडे के लिए बहुत को छोड दे।

आदमी इस छोटे-से जीवन में बहुत-कुछ पाना चाहता है। बहुत-कुछ होना चाहता है और बहुत-कुछ करना चाहता है। वह धनवान बनना चाहता है।

आदमी को यह चिंतन करना चाहिए कि जीवन का अधिकांश अथवा सारा समय धनार्जन करने में ही लग जाएगा तो आत्मा का धन-अर्जन कब होगा?

आत्मा और शरीर दो तत्त्व हैं। आत्मा शाश्वत है। शरीर नश्वर है। इस नश्वर शरीर के लिए जितना समय लगाया जाता है और जितना प्रयास किया जाता है, उतना समय शाश्वत आत्मा के लिए लगाया जाए, इस दिशा में प्रयास किए जाएं तो आदमी शीर्ष तक पहुंच सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा शाश्वत कैसे है? आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। उनमें से एक भी प्रदेश कभी खत्म नहीं होगा, कभी गिरेगा नहीं, कभी बिखरेगा नहीं। हमेशा असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा उसी रूप में रहेगी। न तो एक प्रदेश कभी ज्यादा होगा और न ही एक प्रदेश कभी कम होगा। अनंतकाल पहले भी आत्मा की यही स्थिति थी, आज भी यही स्थिति है और भविष्य में भी यही स्थिति रहेगी, इसलिए आत्मा को शाश्वत कहा जा सकता है। किंतु शरीर की स्थिति आत्मा की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। आज शरीर की जो स्थिति है, एक समय के बाद उसमें परिवर्तन आ जाएगा। शरीर में से कितने परमाणु बाहर जा रहे होंगे और कितने परमाणु भीतर आ रहे होंगे। एक समय ऐसा भी आएगा जब शरीर खंड-खंड हो जाएगा, खत्म हो जाएगा। इसलिए शरीर को नश्वर कहा जा सकता है और नश्वर भी कैसा? अज्ञात नश्वर। प्रायः पता नहीं चलता कि शरीर कब खत्म होने वाला है? अकस्मात् शरीर उत्तर दे देता है, आत्मा और शरीर का पार्थक्य हो जाता है। इसलिए आदमी को सदैव जागरूक रहना चाहिए। आत्मा पवित्र रहे, प्रज्ञा निर्मल रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

आत्मा पवित्र हो, प्रज्ञा जागृत हो तो अनेक पापों से बचा जा सकता है, साधना के क्षेत्र में विकास किया जा सकता है। निर्मलचेता व्यक्ति इस बात पर ध्यान दे कि मेरी कामना कम हो रही है या नहीं? कामना साधना में बाधक बनती है। अनियंत्रित कामना साधना में अवरोध पैदा कर सकती है। कामना पर नियंत्रण होता है तो साधना का विकास हो सकता है।

साधना के पांच सूत्र हो सकते हैं। साधना का पहला सूत्र है—भावक्रिया। जिस समय जो काम किया जाए, उसी में दत्तचित्त बन जाना भावक्रिया है। भावक्रिया का अभ्यास पुष्ट हो जाए तो चलते समय बोलते समय और अन्य

कार्य करते समय भी यथासंभव ध्यान का प्रयोग हो सकता है। यदि चलते समय ध्यान केवल चलने में हो, न कोई विचार, न कोई स्मृति, न कोई कल्पना हो तो चलने की क्रिया भी ध्यान बन सकती है। भावक्रिया एक जीवित क्रिया है। जहां मन अलग हो, द्रष्टा अलग हो तो वह मृतक्रिया हो जाती है। भावक्रिया के साथ किया जाने वाला कार्य अच्छे ढंग से संपन्न हो सकता है और परिणामदायी भी हो सकता है। जबकि द्रव्यक्रिया से किए जाने वाले कार्य में अवरोध पैदा हो सकता है। इसलिए कार्य की सम्यक् संपन्नता और साधना के लिए भावक्रिया की साधना आवश्यक है।

साधना का दूसरा सूत्र है—प्रतिक्रिया विरति। आदमी प्रतिक्रिया-मुक्त रहने का अभ्यास करे। वह बात को ध्यान से सुने, समझे, तटस्थता से उस पर चिंतन-मनन करे, न कि तत्काल प्रतिक्रिया कर दे। आदमी घटना को देखना सीख ले, जानना सीख ले, वह ज्ञाता-द्रष्टा बने, किंतु भोक्ता न बने—यह बहुत बड़ी साधना है। जब ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास हो जाता है तो फिर प्रतिक्रिया नहीं हो सकती।

साधना का तीसरा सूत्र है—मैत्री। कई बार मोह और मैत्री को एक समझ लिया जाता है, किंतु मोह और मैत्री में बहुत अंतर है। मैत्री में मोह का होना आवश्यक नहीं है। निर्मोह की साधना करने वाला भी मैत्री का प्रयोग कर सकता है। दूसरों के विकास का चिंतन, परोपकार का चिंतन मैत्री का ही प्रयोग है। मोह व्यक्ति-विशेष के साथ होता है। अमुक मेरा भाई है, मां है, पिता है—आदि-आदि। मैत्री व्यक्ति-विशेष के साथ प्रतिबद्ध नहीं होती। उसका रूप विराट होता है। मेरी ओर से किसी प्राणी को कष्ट न हो, यह मैत्री का प्रयोग है। किसी का बुरा नहीं करना, संभव हो तो कल्याण करना, सही रास्ता दिखाना, यह भी मैत्री का प्रयोग है।

किसी व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग में स्थापित कर देना, कोई व्यक्ति व्यसनयुक्त जीवन जीता है—उसे व्यसन-मुक्त बना देना, भोगासक्त व्यक्ति को त्याग की ओर आगे बढ़ा देना—बहुत बड़ा उपकार है, मैत्रीपूर्ण प्रयोग है। कोई व्यक्ति बीमार है, असमाधि में है, उसे मानसिक समाधि में स्थापित कर दिया जाए—यह भी महान उपकार और मैत्री का प्रयोग है। अपना अहित करने वाले का भी कल्याण करने का प्रयास करना परम मैत्री का प्रयोग है। अपनी मैत्री कई बार दूसरों को सम्यक् चिंतन के लिए बाध्य कर सकती है और बदल

भी सकती है।

साधना का चौथा सूत्र है—मिताहार। साधक को आहार में संयम रखना चाहिए। वह इतना ज्यादा भी न खाए कि साधना में बाधा उत्पन्न हो जाए और वैसा भोजन भी न करे कि स्वास्थ्य खराब हो जाए। स्वास्थ्य भी ठीक रहे और साधना भी सम्यक् चले— इस प्रकार का भोजन करना चाहिए। ऊनोदरी करना, द्रव्यों की सीमा रखना, विगय-वर्जन करना, ये सब मिताहार के प्रयोग हैं। उपवास करना भी अच्छा है, किंतु भोजन करते हुए भी कम खाना साधना का विशेष प्रयोग है।

साधना का पांचवां सूत्र है—मितभाषण। वाक्-संयम भी साधना के लिए आवश्यक माना गया है। वाणी संयम नहीं है तो साधना में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अधिक बोलने वाले व्यक्ति के मुंह से कभी भी, कुछ भी निकल सकता है और वह राग-द्वेष को बढाने का निमित्त हो सकता है। साधक वह है जो पहले तोले, फिर बोले। पहले सोचे, फिर बोले। व्यवहार जगत में बोलना जरूरी होता है, पूर्णतः मौन सबके लिए संभव नहीं हो सकता, किंतु अनावश्यक न बोलने का संकल्प एक साधक के लिए जरूरी होता है।

इन पांच सूत्रों का अभ्यास किया जाए तो साधना पुष्ट बन सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में बताया गया—

जे इंदियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी।।

इंद्रिय विषय अनुकूल भी सामने आते हैं और प्रतिकूल भी सामने आते हैं। साधक का ज्ञाता-द्रष्टा भाव विकसित हो जाए, फिर विषय सामने आने पर भी मन प्रतिक्रियान्वित नहीं होगा। लक्ष्यपूर्वक साधना की जाए तो राग-द्वेष को काफी मात्रा में कम किया जा सकता है और साधक सिद्धि के द्वार तक पहुंच सकता है।

२९

अप्रमाद की ओर

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—'सव्वतो पमत्तस्स भयं' प्रमादी व्यक्ति को सब ओर से भय रहता है। मनुष्य के द्वारा प्रमाद हो सकता है। गलती करना मनुष्य का स्वभाव माना गया है। दुनिया में ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जिनसे कभी कोई प्रमाद नहीं होता। प्रमाद होने मात्र से या छोटी-मोटी गलती करने मात्र से उसका बहिष्कार किया जाए, यह उचित नहीं होता। 'स्खलितः स्खलितो वध्यः' स्खलित होने मात्र से उसे खत्म कर दिया जाए—यदि यह नीति बन जाए तो दुनिया में दो-तीन आदमी ही बचेंगे क्योंकि 'बहुदोषा हि मानवा' आदमी बहुत दोष वाला होता है। छोड़ दें ऐसे महापुरुषों की बात, जो साधना-काल में प्रायः अप्रमत्त रहे। भगवान् ऋषभ का साधना काल एक हजार वर्ष का रहा। उसमें प्रमाद-काल एक दिन-रात का माना जाता है। भगवान् महावीर का साधना-काल बारह वर्ष और तेरह पक्ष का रहा। उसमें प्रमाद-काल एक अंतर्मुहूर्त्त का बताया जाता है और यह प्रमाद भी एक साथ नहीं हुआ। उनके साधना-काल में जो प्रमाद हुआ, उसे संकलित किया जाए तो वह एक दिन-रात और एक अंतुर्मुहूर्त्त का होता है।

आदमी से प्रमाद तो हो सकता है किंतु उस प्रमाद से अपने आपको हटाने का लक्ष्य रखे। एक बार गलती हो जाने पर पुनः वह गलती न हो, ऐसा प्रयास करना चाहिए।' गलती होना कोई बड़ी बात नहीं है, गलती का प्रायश्चित्त करना और भविष्य में न करने का संकल्प करना बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। चलने वाला व्यक्ति कभी गिर भी सकता है किंतु गिरे हुए को उठा लेना या गिरने से बचा लेना बड़ी बात है।

अनेक साधक बहुत जागरूक रहते हैं, वे प्रायः प्रमाद नहीं करते। किंतु ऐसे भी साधक होते हैं, जिनसे जाने-अनजाने में प्रमाद हो जाता है। क्योंकि आदमी के भीतर राग और द्वेष के संस्कार हैं, अशुभ भाव हैं। वे आदमी को प्रमाद की ओर प्रेरित करते रहते हैं। इसलिए आदमी तत्त्व को अच्छी तरह समझकर सही और गलत का निर्णय करे। तत्पश्चात् सही कार्य करने और गलत कार्य न करने का संकल्प किया जाये तो काफी अंशों में प्रमाद से बचा जा सकता है। किन्तु फिर भी यदा-कदा प्रमाद हो जाता है। जहां प्रमाद होता है, वहां भय बना रहता है।

एक संन्यासी रात्रि में खड़ा-खड़ा ईश्वर का स्मरण कर रहा था। अचानक राजा का उधर से निकलना हुआ। राजा ने पूछा—महात्मन्! आप खड़े क्यों हैं? यह तो नींद लेने का समय है और आप जग रहे हैं। यदि आपको किसी शत्रु का भय हो तो पुलिस का पहरा लगवा दूं। संन्यासी ने कहा—राजन्! मुझे बाहर के शत्रुओं का भय नहीं, भीतर के शत्रुओं का भय है। उनके लिए स्वयं को ही पुलिस बनना पड़ता है। दूसरा कोई उनसे रक्षा नहीं कर सकता। थोड़ा-सा प्रमाद होते ही उनके आक्रमण का खतरा बना रहता है। इसलिए हर समय मैं ईश्वर-स्मरण में जागरूक रहता हूं।

साधना के क्षेत्र में प्रमाद और अप्रमाद का संघर्ष चलता रहता है। साधना करते-करते साधक के जीवन में ऐसी स्थिति का निर्माण हो जाए, जहां संघर्ष समाप्त हो जाए, प्रमाद परास्त हो जाए और अप्रमाद की विजय हो जाए। आदमी अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रयाण करना चाहता है किंतु जब तक प्रमाद से अप्रमाद की ओर प्रस्थान नहीं करेगा तब तक वह प्रकाश, सत् और अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति प्रमाद-स्थानों का वर्जन करे और अप्रमत्त रहने का संकल्प और अभ्यास करे तो वह वीतरागता की दिशा में प्रस्थान कर सकता है और अपने जीवन को सुफल बना सकता है।

३०

आवेशों की विफलता : जीवन की सफलता

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—'उवसमेण हणे कोहं' उपशम भाव से क्रोध का हनन करो। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएं हो सकती है। उनमें से एक समस्या है—आवेश एवं आवेशजनित व्यवहार। आक्रोश दो प्रकार का होता है—एक आवेश रूप आक्रोश जो चाहे अनचाहे आ जाता है और जिस पर नियंत्रण करना भी मुश्किल हो जाता है। दूसरे प्रकार के आक्रोश में केवल भाषा से कठोर बात कही जाती है किंतु मन शांत रहता है। मेरी दृष्टि में दूसरे प्रकार का आक्रोश इतना खतरनाक नहीं होता, जितना आवेश रूप आक्रोश होता है। कुछ व्यक्ति अपने गुस्से की प्रकृति से परेशान रहते हैं। वे नहीं चाहते कि उन्हें गुस्सा आए किंतु प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होते ही वे आक्रोश में आ जाते हैं।

अध्यात्म की साधना में आवेश को नियंत्रित करने के लिए कुछ प्रयोग भी बताए गए हैं जैसे—

- दीर्घश्वास का प्रयोग।
- श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग।
- ललाट पर सफेद रंग का ध्यान।

इन प्रयोगों को निष्ठा के साथ लम्बे समय तक नियमित रूप से किया जाए तो निष्पत्ति आ सकती है। 'आवेश करने से कोई लाभ नहीं है' यह बात अगर भीतर तक चली जाए तो आदमी धीरे-धीरे अपने आवेश को नियंत्रित कर सकता है। आदमी ऐसे महापुरुषों के जीवन प्रसंगों को पढ़े जिनसे यह प्रेरणा

मिलती हो कि उन महापुरुषों के सामने प्रतिकूल परिस्थितियां आई थी किंतु फिर भी वे शांत रहे।

जीवन में सदा अनुकूलता ही रहेगी, यह मानकर नहीं चलना चाहिए। परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं और आदमी को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का सामना करना होता है। अगर आदमी का मनोबल मजबूत है, स्वभाव शांत है तो वह किसी भी परिस्थिति को शांति के साथ झेलने में समर्थ हो सकता है।

आदमी कभी-कभी आक्रोश में आकर कटु शब्दों का प्रयोग कर लेता है, शब्द का अपना प्रभाव होता है, एक शब्द से सामने वाले व्यक्ति को आक्रोश में लाया जा सकता है और एक शब्द से सामने वाले व्यक्ति के आक्रोश को शांत किया जा सकता है। अपने आपको शांत बनाए रखने के लिए और माहौल को सुन्दर बनाने के लिए शब्दों पर ध्यान देना चाहिए कि आदमी किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कर रहा है। मेरा मानना है कि एक बात को कड़ाई के साथ भी कहा जा सकता है और उसी बात को बड़ी शालीनता और मृदुता के साथ भी कहा जा सकता है। मेरा मंतव्य तो यह भी है कि कभी-कभी कठोर बात भी यदि विवेक पूर्वक कही जाती है तो वह भी लाभदायी होती है।

शब्द का प्रभाव तो होता ही है किन्तु शब्द से ज्यादा उसके अर्थबोध का प्रभाव होता है। एक आदमी अंग्रेजी भाषा को जानता ही नहीं, उसे अंग्रेजी में कुछ भी बोल दिया जाए, अर्थबोध के अभाव में उसके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। किंतु यही बात अंग्रेजी भाषा को समझने वाले व्यक्ति से कह दी जाए तो वह बात उसे प्रभावित कर सकती है।

संत ने किसी भक्त से कहा—भाई! किसी मंत्र का जाप किया करो। भक्त ने कहा—मुनिवर! मैं बौद्धिक आदमी हूं। आपने कह दिया और मैंने मान लिया, ऐसा नहीं हो सकता। क्या पड़ा है मंत्र पाठ में? शब्दों में? संत ने सोचा—अपने आपको बौद्धिक मानने का दावा करने वाले इस युवक को बौद्धिकता के साथ ही समझाना चाहिए। बौद्धिक आदमी को अलग तरीके से समझाया जाता है और मंदबुद्धि आदमी को अलग तरीके से समझाया जाता है। संत ने दिखावटी आक्रोश करते हुए कहा—बेवकूफ कहीं के, कुछ समझते ही नहीं हो।' अपने लिए 'बेवकूफ' शब्द का प्रयोग सुनते ही युवक उत्तेजना में आ गया और बोला—मैं तो मां की प्रेरणा से आपके दर्शन करने आया था। आप ऐसे बोलते हैं, अब कभी भी आपके पास नहीं आऊंगा। संत मुस्कुराए

और बोले युवक! तुम गुस्से में आ गए? संत के चेहरे पर मुस्कान देखी और युवक का गुस्सा शांत हो गया। संत ने कहा—वत्स! अभी तुमने कहा था कि शब्दों में क्या पड़ा है? किंतु कठोर शब्द का प्रयोग करते ही तुम उत्तेजित हो गए और नम्र शब्दों के प्रयोग से तुम शांत हो गए। शब्दों का भी अपना प्रभाव होता है।

आदमी विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करे और यह संकल्प करे की मुझे शांत रहना है। किसी भी परिस्थिति में आवेश नहीं करना है। मुझे अपने आवेश पर नियंत्रण रखना हैं। आवेश मेरा मालिक न बने, मैं आवेश का मालिक बनूं। आदमी में इस क्षमता का विकास होना चाहिए कि मैं चाहूं तो आवेश करूं और न चाहूं तो न करूं। इतनी सी चाबी हाथ में आ जाए तो मानना चाहिए कि आदमी ने विकास किया है। प्रतिदिन कुछ समय ध्यान, जप, योग का अभ्यास किया जाए और क्रोधोपशमन का संकल्प किया जाए तो आदमी में अन्तर आ सकता है। उसका व्यवहार भी परिष्कृत हो सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन शांतिमय बन सकता है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा—स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

प्राप्ति स्थान

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

जिनका चिन्तन

चित्त को प्रसन्नता और

चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

इसी पुस्तक से...

- जो भी घटना घटित हो, उसे केवल देखना सीखें, उसके साथ जुड़ें नहीं। जो व्यक्ति घटना के साथ खुद को जोड़ देता है, वह दुःखी बन जाता है और जो केवल द्रष्टा भाव से घटना को देखता है, वह दुःख मुक्त रहता है।

- जो व्यक्ति अतीत की स्मृति में उलझा रहता है या भविष्य की कल्पना के मधुर सपने देखता है, वर्तमान उसके हाथ से छूट जाता है। वह जीवन में दुःख का अनुभव करता है।

- वह जीवनशैली प्रशस्त होती है, जो अनावेश से प्रभावित हो, अनासक्ति और अनाग्रह से युक्त हो। इन तीनों से जीवन की बगिया लहलहा उठती है और आदमी का जीवन सरस और सुखी बन जाता है।

9788171951673

₹ 50